जुलाई १९५१

वर्ष ३२ अंक ७

संपादक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
अध्यक्ष, स्वाध्याय-मण्डल

ज्येष्ठ २००८

वैदिक धर्म

[जुलाई १९५१]

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
सहसंपादक
श्री महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.
वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

क्रमांक ३१

वर्ष ३२ अंक ७

जेष्ठ
विक्रम संवत् २००८
जुलाई १९५१

दक्षतापूर्वक उत्तम कर्म करें

मा स्रेधत सोमिनो दक्षता महे कृणुध्वं राय आतुजे।
तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे ॥

ऋग्वेद ७।३२।९

(सोमिनः मा स्रेधत) यज्ञ कर्मोंसे पीछे न हटें। (दक्षत) दक्षतासे सब काम कीजिये। (महे आतुजे राये कृणुध्वं) बडे शत्रुके विनाशके लिये तथा धन प्राप्तिके लिये कर्म कीजिये। (तरणिः इत् जयति) त्वरासे उत्तम कर्म करनेवालोंकी जय होती है तथा वही (क्षेति पुष्यति) उत्तम प्रकारसे रहता है और बढता जाता है (देवासः कवत्नवे न) विबुध कुत्सित कर्म करनेवालोंको कभी भी सहायता नहीं देते।

उत्तम कर्म करते रहो, वे कार्य दक्षतासे करो। हमारे शत्रुओंका विनाश होवे तथा हमें धन प्राप्त हो, इसके लिये प्रशस्त कर्म करो। जो त्वरासे किन्तु निर्दोष रीतिसे कर्म करता है उसीकी विजय होती है। वही यहां सुखपूर्वक रहता है एवं समर्थ बनता है। बुरे कर्म करनेवालोंकी कोई सहायता नहीं करता।

विचार करना चाहिये

सोमनाथकी स्थापना प्रभास पट्टनमें हुई। सारा समारम्भ उत्तम प्रकारसे पूर्ण हुआ। समस्त हिन्दुओंके हृदय आनन्दसे भर गये। अपने देवस्थानको भग्नावस्थामें अनेक वर्षोंतक देखना किसीको रुचेगा नहीं। सैकड़ों वर्षोंका यह व्रण आज सुधर गया। किन्तु इस अवसरपर हिन्दुओंको यहाँ यह विचार करना चाहिये कि 'हिन्दुओंके देवस्थान दूसरे लोग तोड़ते रहें और हिन्दु उन्हें पुनः पुनः बांधते रहें' यह स्थिति क्या अच्छी है? गत दो हजार वर्षोंमें हिन्दुस्तानमें अनेक बाहरके लोग आये। उन्होंने यहाँ आकर अनेक अत्याचार किये, तब भी हिन्दुओंकी ओरसे उनका प्रतिकार न हो सका।

सोमनाथका ही उदाहरण लीजिये। महमूद गझनीसे लेकर औरंगजेबतक ७-८ बार मूर्ति तोड़ी गई, मन्दिर तोड़े गये, लूट हुई, किन्तु एकबार भी हिन्दु संगठित न हुए और शत्रुओंका प्रतिकार भी उन्होंने नहीं किया। पोर्तुगीजोंने भी एकबार सोमनाथका मन्दिर जलाया; किन्तु उनका भी किसीने प्रतिकार नहीं किया। पोर्तुगीजोंकी संख्या कोई बहुत अधिक न थी, थोड़ी ही थी और वे कोई बड़ी फौज भी अपने देशसे लेकर नहीं आये थे। किन्तु उनका भी किसीने प्रतिकार नहीं किया। महमूद गजनी जो यहाँ आया था वह यहाँके लिये नया (अनजाना) ही था। उसके मार्ग दर्शक हिन्दु ही थे। वह जिस मार्गसे सोमनाथतक पहुँचा वह मार्ग अच्छे भले सशक्त व्यक्तियोंका था। हिन्दुकुश पर्वतसे वह पंजाबमें आया। पंजाबी लोग निर्बल न थे। वहाँसे वह राजपूतानेमें उतरा, राजपूत भी दमदार और शक्तिसम्पन्न थे। उसके बाद वह काठियावाड़में आया। वहाँके लोग भी शरीरसे अच्छे हृष्टपुष्ट थे। जिस प्रकार पंजाबकी गायें भैंसे दुधारू हैं उसी प्रकार काठियावाड़की गाय भैंसे भी खूब दूध देनेवाली हैं। इसलिये लोग अच्छे हृष्टपुष्ट हैं। धन धान्य, दूध घी आदि इन लोगोंका खूब मिलता है। किन्तु इतनी शक्ति होनेपर विदेशी आक्रमकोंका प्रतिकार इनसे न हो सका। महमूद गझनवी प्रथम आया। इससे पूर्व कोई आक्रमक नहीं आया था। लौटते समय मार्ग दर्शकने ठीक मार्ग न दिखानेके कारण उसे बड़ा कष्ट हुआ। इस अवसरपर तीनों ओरसे यदि उसे काठियावाड़ी, राजपूत और पंजाबी वीरोंने घेर लिया होता तो वह वापस अपने देश गझनी पहुँच ही न पाता। साथ ही यदि उसे ऐसी दहशत बैठ जाती तो भविष्यके लिये किसी दूसरेका यहाँ आनेका साहस ही न होता।

बाहरके आक्रमकका सदैव यहाँ यथेच्छ प्रतिकार न होनेके कारण निरन्तर बाहरके आक्रमण होते रहे। यह इस-प्रकार होनेका एक मात्र कारण यही है कि हिन्दुओंमें संगठन न था और वही स्थिति आज भी ज्योंकी त्यों है। आया हुआ अतिथि यहाँ सरदार बनकर रहता है और उसे यों बढ़ावा देनेवाले भी यहीं के होते हैं।

हजारों मीलोंके हिन्दु सोमनाथपर १०।१५ आक्रमणोंको होते हुए देखकर भी संगठित न हो सके, यह बड़े दुःखकी बात है। इन प्रदेशोंमें छोटे बड़े अनेक राजा थे। प्रत्येक अपनी चमड़ी बचानेका यत्न करता था; किन्तु संगठित होकर शत्रुके प्रतिकार करनेकी कल्पना इन्हे छू तक न सकी, महमूदने मार्गके कुछ राजाओंको आश्रय दिया, वे इतनेसे ही प्रसन्न हो गये। अनेकोंने उसे स्वयं मार्ग दे दिया और सामग्री भी दी। यदि किन्हीने किंचित् प्रतिकारका साहस किया तो उसने उसे तहसनहस कर दिया। यह सब हिन्दु राजा देखते रहे। किन्तु संगठित होकर संघशक्तिके निर्माणकी कल्पना भी इनके मनमें उत्पन्न न हो सकी। यही हिन्दुओंमें दुर्गुण है। हिन्दु सैनिक विजयी है, यदि वह संगठित हो जाय तो विजय प्राप्त कर सकता है; किन्तु यही बात आजतक उसकी समझमें न आसकी। ईश्वर करे कि यह बात उसे आज भी समझमें आजाय कि 'संगठनमें ही हमारा परम हित है'

सोमनाथके इस नवीन उत्सवसे यदि यह बात हिन्दु समझ सकें तो भी उनका भविष्य उज्वल हो सकता है। हिन्दुओंको चाहिये कि वे गत इतिहाससे स्वसंगठनका बोध प्राप्त करें।

प्रमाणपत्र वितरण–समारम्भ

बहेडी (बरेली)

बहेडीमें गत मासकी ता० १४ को एक समारंभ कर प्रमाण पत्र वितरित कर दिये गये। समय १० बजेसे ११ बजे तक था। प्रथम श्रेणीके अनुसार प्रमाणपत्र वितरित हुए। तत् पश्चात् केन्द्र व्यवस्थापक श्री. भागीरथी गुप्तका भाषण और उनके बाद हेडमास्टर साहबका भाषण हुआ। हेडमास्टर साहबका भाषण विशेष प्रभावशाली रहा और सभी आवश्यक बातें उसमें बताई गईं।

स्कूलके सभी अध्यापक वर्ग और छात्र उपस्थित थे। आशा है कि छात्र अधिक उत्साहसे अगली परीक्षाओंमें भाग लेंगे।

अजमेर केंद्र

गत ता० २८ अप्रैलको आर्यसमाजके साप्ताहिक अधिवेशनमें श्री पं. ब्रह्मानन्दजी त्रिपाठी आयुर्वेद शिरोमणी बी. ए. जो गुरुकुल वृन्दावनके स्नातक तथा अजमेर प्रान्तीय कांग्रेसके मंत्री हैं और आर्य अनाथालयके भी मंत्री हैं उनके हाथसे परीक्षार्थियोंको प्रमाणपत्र दिलाये गये। उपस्थिति २०० से ऊपर थी। उक्त पंडितजीका संस्कृत भाषाके महत्त्वपर बडा सारगर्भित भाषण हुआ। और उन्होंने सबको संस्कृत पढनेकी प्रेरणा दी। इस बातपर समग्र उपस्थित जनसमूहने बडा आश्चर्य प्रकट किया कि प्रमाणपत्र लेनेवाले प्रायः छोटे (३ ४ क्लासके) बच्चे थे और उनमें भी अधिकतर कन्यायें थीं। इसका प्रभाव यह उत्पन्न हुआ कि अनेक सज्जनोंने संस्कृतका अध्ययन प्रारंभ कर दिया। केन्द्र-व्यवस्थापक श्री रामचन्द्रजी आर्य मुसाफिरने आशा व्यक्त की है कि आगामी परीक्षाओंमें १०० से ऊपर परीक्षार्थी बैठ सकेंगे।

खामगांव (विदर्भ)

न्यूइरा हाईस्कूलके प्रधानाध्यापक एवं संस्कृत परीक्षाओंके केंद्रव्यवस्थापक श्रीमान् अ. दे. महाशूरकी अध्यक्षतामें खामगांव केंद्रका प्रमाणपत्र वितरण २८ अप्रैलको उत्साहके साथ सम्पन्न हुआ। वहांके संस्कृत शिक्षक श्रीयुत आंबेकरजी काव्यतीर्थने अत्यन्त व्यवस्थित रूपसे प्रचारकार्य किया। प्रथमवार ही इस केंद्रसे १०८ छात्रोंने संस्कृत परीक्षाओंमें भाग लिया। गव्हर्नमेन्ट गर्ल्स हाईस्कूलकी संस्कृताध्यापिकाकी ओरसे भी पूरा सहयोग प्राप्त हुआ।

प्रमाणपत्र वितरण श्री महेशचन्द्र शास्त्री विद्याभास्कर (परीक्षामन्त्री) के हाथों हुआ। अध्यापकों एवं छात्रोंकी उपस्थिति अच्छी थी। विदर्भ विभागके मुख्य कार्यवाहक श्री विष्णू त्रिंबक दीक्षित (आकोला) भी इस अवसरपर उपस्थित थे। संस्कृतभाषाके महत्त्वपर श्री परीक्षामन्त्रीका सारगर्भित भाषण हुआ। अन्य भाषणोंके पश्चात् लगभग दो घण्टेमें सभाकी कार्यवाही समाप्त हुई। खामगांव केंद्रके अन्तर्गत बुलढाणा जिलेमें भी प्रचार कार्य खूब बढेगा तथा संस्कृतका व्यापक प्रचार होगा ऐसी आशा है।

लङ्का (सिंहल) के कुछ वैज्ञानिक शब्द जो संस्कृतसे निर्माण किये गये हैं–

१ तूर्णभाण्डय= पियानो। २ यन्त्रकारया= इंजीनियर! ३ रथचक्र= बाइसिकिल। ४ रथचक्रपाचना= बाइसिकिल बनानेवाला। ५ गणनपत्रय= बिल। ६ आवच्यय-लेखनय= औसतपत्रक। ७ सीमासहित समागम= लिमिटेड कम्पनी। ८ धूमनाव= स्टीमर। ९ उपद्रवारक्षक पत्रय= इन्श्योरेंन्स पालिसि। १० दूरशब्दन यन्त्र = टेलीफोन।

संस्कृतभाषाके वृत्तपत्र

साहित्य जनताकी भावनाओंका प्रतिबिम्ब है और वृत्तपत्र उसके आत्माकी प्रतिध्वनि। जनता किस ओर आकर्षित हुई है? वह क्या चाहती है? इन बातोंका पता तत्कालीन साहित्य एवं वृत्तपत्रों द्वारा लगता है। गत दो तीन वर्षोंमें भारतके सभी प्रान्तोंमें संस्कृत साहित्य एवं पत्रोंका जो निर्माण एवं विकास हुआ है वैसा पिछले अनेक वर्षोंमें भी नहीं हुआ। इस बातसे यह अवश्य सिद्ध होता है कि जनताकी श्रद्धा संस्कृतभाषाके प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। प्रान्तीय संकीर्णताको दूर करके जब भारतीय जनता एकताके मंगलमय रूपके दर्शन करना चाहती है तो उसे संस्कृत जननीकी विशाल गोद ही एकमात्र आश्रय रूपमें दिखाई देती है। यही कारण है कि सभी प्रान्तीय भाषायें संस्कृत भाषामें पोषित होनेका अपना अधिकार समान रूपसे स्वीकार करती है।

हम किन्हीं संस्कृत वृत्तपत्रोंका परिचय यहां प्रस्तुत करते है। हम चाहते हैं कि इन वृत्तपत्रोंको प्रत्येक शिक्षण संस्था एवं प्रत्येक संस्कृत प्रेमी अपनाकर सहयोग दे। निम्नाङ्कित वृत्तपत्रोंके सम्पादकों, मुद्रकों, एवं प्रकाशकोंका हम हृदयपूर्वक अभिनन्दन करते हैं और चाहते हैं कि उनका यह प्रयास अधिकसे अधिक सफल होकर राष्ट्रके लिये प्रकाशस्तम्भ बने।

१-संस्कृत भविनव्यम सम्पादक- श्री भा. वर्णेकर एम. ए. काव्यतीर्थ। प्रकाशक-स ना. कुळकर्णी। मुद्रक- व्ही. माधवराव मुदलियार प्राप्तिस्थान- धर्मपेठ (मोहनी भवन) **नागपूर**

नागपूरके प्रतिष्ठित विद्वानोंके सहयोगसे वहां एक 'संस्कृत-भाषा प्रचारिणी सभा' प्रस्थापित की गई है। इसी सभाका यह मुखपत्र है। नागपूर नगरमें इस सभा द्वारा संस्कृतभाषा प्रचारकी दृष्टिसे भिन्न भिन्न कार्यक्रम होते रहते हैं। ये कार्यक्रम अत्यन्त प्रभावशाली रहते है। इस सभा द्वारा जिस संगठित रूपमें तथा जिस उत्साहके साथ संस्कृत प्रचार कार्य होता है वह सबके लिये आदर्श है। '**संस्कृत भविनव्यम**' की भाषा सुबोध सरल एवं नाविन्यपूर्ण है। बड़ी रोचक सामग्रीसे परिपूर्ण यह साप्ताहिक रहता है। वार्षिक मूल्य ३-१३-० है।

२-भारती सम्पादक-सुरजनदास स्वामी एम. ए. प्राध्यापक महाराज कालेज **जयपुर**। प्रकाशक-श्री जयबहादुरसिंह। प्राप्तिस्थान-भारतीभवन, गोपालजीका रास्ता, **जयपुर**

यह मासिकपत्र जयपुरसे प्रकाशित हो रहा है। इसमें 'संस्मरणीया महापुरुषाः' स्तम्भके अन्तर्गत संसारके प्रख्यात व्यक्तियोंके जीवनचित्र लेखरूपमें प्रस्तुत रहते हैं। साथ ही सम्पादकीय टिप्पणियां एवं राजस्थान समाचार आदि स्तम्भ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहते हैं। मासिकपत्रकी सम्पूर्ण सामग्री बड़े परिश्रमपूर्वक जुटाई हुई रहती है। अतएव वह अत्यन्त रोचक तथा पठनीय होती है। यह मासिक किसी भी भाषाके मासिककी तुलनामें कम उपादेय नहीं है। वार्षिक मूल्य केवल २-०-० रु. है।

३ मधुरवाणी- संस्थापक- वे. बुर्ली श्रीनिवासाचार्यः संस्कृत साहित्यभूषणम्। सम्पादक- पं. गलगली रामाचार्यः संस्कृत साहित्यरत्नम्। सहसम्पादक- गलगली पण्ढरीनाथाचार्यः सं. सा. सुधाकर। प्राप्तिस्थान- मधुरवाणी कार्यालय, देशपाण्डे गल्ली १४५८ **बेळगांव**

यह मासिक पत्रिका प्रति पूर्णिमाको प्रकाशित होती है। १५ वर्षोंसे यह भारत भारतीकी नैरन्तर्येण सेवा कर रही है। इसमें सभी प्रकारकी पाठ्य सामग्रीका संकलन रहता है। पद्योंका चयन भी बड़ी उत्तमतासे किया हुआ रहता है। आधुनिकतम विषयोंपर गद्यपद्यात्मक सुन्दर सामग्री प्रस्तुत रहती है। बड़े परिश्रमसे संचालकों द्वारा यह पत्रिका सजाई हुई रहती है। वार्षिक ५-०-० है।

४ संस्कृतम्- संस्थापक-स्व. श्री पं. कालीकुमारजी त्रिपाठी। सम्पादक- पं. कालीप्रसाद शास्त्री। सह सम्पादक- कमलाकान्त त्रिपाठी। प्राप्तिस्थान- श्री संस्कृत कार्यालय, **अयोध्या** (उत्तरप्रदेश)

बीस वर्षसे यह साप्ताहिक संस्कृत भाषाकी सेवामें अपना योगदान दे रहा है। अनेक आर्थिक आपत्तियोंको उठाकर भी इसका प्रकाशन यथापूर्व हो रहा है। इसकी भाषा प्रगतिशील संस्कृत मानी जाती है। जनप्रचलित शब्दोंका अति सुन्दरता पूर्वक इसमें समावेश रहता है। संस्कृतका व्यापक प्रचार चाहनेवालोंके लिये यही उचित है कि वे ऐसी संस्कृत बोलें तथा लिखें कि जो अन्य भाषियोंके लिये साम्यपूर्ण सी हो। इस दृष्टिसे यह साप्ताहिक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वार्षिक मूल्य ७-०-०।

हम अपने सभी परीक्षा केन्द्रोंके लिये उपर्युक्त वृत्तपत्रोंका ग्राहक होना लाभदायक समझते हैं। अतः केन्द्र व्यवस्थापक महानुभावोंसे निवेदन है कि वे अपने प्रचार कार्यके लिये इनका उपयोग अवश्य करें।

भारतीय संस्कृतिका स्वरूप

[लेखांक २]

(लेखक— श्री. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

बहुतसोंका कहना है कि भारतीय संस्कृति एक प्रकारकी मिश्रसंस्कृति है। आजकी हिन्दु संस्कृतिको देखा जाय तो सचमुच ऐसा ही प्रतीत होता है कि यह बात सत्य है। इस संमिश्रणसे भारतका भला हुआ या बुरा हुआ, इसका विचार अवश्य करना चाहिये।

भारतीय संस्कृतिका अतिप्राचीन प्रवाह 'वैदिक विचार प्रवाह' के नामसे जाना जाता है। सहस्रों वर्षोंका यह प्रवाह है। इसे 'भारतीय सरस्वती' नामसे ऋषियोंने संबोधित किया है। निर्लेप, निष्कलंक, शुद्ध स्फटिकके समान यह प्रवाह जबतक प्रवाहित होता रहा तबतक आचारविचार एवं राजकीय परिस्थितिकी दृष्टिसे भारतवर्ष विश्वमें अग्र. गण्य था। विदेशोंसे अनेक युवक यहाँ आते, ज्ञान विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करते और अपने देशोंमें लौटकर उसका प्रचार किया करते थे।

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः'
(मनु)

'इस देशके आचार्योंके पास धरतीके सभी मनुष्य आवें और मानवजीवन किस प्रकार सुखमय बनावें, इसकी शिक्षा ग्रहण करें' यह घोषणा ऋषियोंने की। विश्वको ज्ञानदानका सन्मान भारतको प्राप्त है यह बात उस समयकी भारतकी स्थिति सिद्ध करती है। आज वह सन्मान भारतको प्राप्त नहीं है। आज इस बातपर विचार करनेकी आवश्यकता है कि वह सन्मान भारतको आज क्यों प्राप्त नहीं है। बुद्धपूर्व यह सन्मान भारतको प्राप्त था। बुद्धोत्तर कालमें भारतमें जो क्रान्ति अथवा विचार क्रान्ति हुई उसके कारण यह सन्मान भारतके पास न रह सका।

वैदिक विचार सरणी

अब हमें यह विचार करना है कि वैदिक ऋषियोंका जीवनकी ओर देखनेका दृष्टि कोण कैसा था।

१- वैदिक ऋषि 'परमेश्वर विश्वरूपी' है ऐसा देखते और अनुभव करते थे। यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला साकार ईश्वर उनके सामने प्रत्यक्ष था।
(पुरुष एव इदं सर्वं। ऋग्वेद)

२- यह ईश्वर 'सत्-चित्-आनन्द' है। मनुष्य इसी विश्वरूपका एक अंशमात्र है। मनुष्य और यह अनन्य है; क्योंकि यह उसीका अंश है। अंश और अंशी एक ही हुआ करते हैं।

३- विश्वरूप सत्य है; साथ ही वह पूर्ण भी है। (पूर्णं अदः पूर्णं इदं) विश्व अपूर्ण नहीं है; वह जैसा होना चाहिये वैसा ही है।

४- यह विश्वरूप ईश्वर संसेव्य है। अनेक यज्ञ करके इसकी वे सेवा करते हैं। इन यज्ञोंसे वैयक्तिक, सामूहिक, राष्ट्रीय तथा राष्ट्रान्तरीय कल्याणकी साधना वे करते थे। उन सम्पूर्ण किये हुए यज्ञोंका उद्देश्य ही विश्वसेवा था।

५- ज्ञानका प्रसार करके ब्राह्मण, संरक्षण करके क्षत्रिय, धनद्वारा वैश्य तथा कर्म करके शूद्र इस विश्वरूपकी सेवा किया करते थे। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति' (गीता) ऐसी स्थितिमें तो उनका सारा व्यवहार प्रत्यक्ष परमेश्वरसे ही हुआ करता है।

६- इस परमेश्वरके विश्वदेहमें मनुष्य जन्मग्रहण करता है। मनुष्यका यह परम सौभाग्य है। यह मनुष्य

इस विश्वदेहका एक भाग ही तो है। वह जहाँ होगा वहाँ उसे समर्थ ही होना चाहिये। इसके लिये अनेक योगसाधन एवं अनुष्ठान यहाँ किये जाते हैं और मानवमें अनुशासन उत्पन्न किया जाता है। इसका परिणाम यह होता था कि मनुष्य अनुशासनशील बनता था।

७- इस विश्वदेहमें मनुष्यको उत्पन्न करनेवाली स्त्री एक बहुत बडी शक्ति है। स्वर्गसे भी अधिक इसकी योग्यता है। स्त्रीके बिना कोई भी यज्ञ नहीं हो पाता। लगभग १० पुत्र तो उत्पन्न करने चाहिये; नहीं तो कमसे कम ८ तो होने ही चाहिये। निपुत्रिक मरना नहीं चाहिये। पुत्र पौत्रादिकोंसे घर भरा हुआ होना चाहिये। ' क्रीळन्तौ पुत्रै नप्तृभिर्मोदमानौ स्वके गृहे।'

८- शरीर देवताओंका मन्दिर है अथवा यह सप्त ऋषियोंका आश्रम है। यह कल्पवृक्ष है। यहाँ जो कल्पना की जाती है वह यहाँ सिद्ध हो जाती है। शरीर साधनभूत है; अतः इसे अधिकाधिक उपयोगी बनाना चाहिये, अधिकाधिक सामर्थ्यवान् बनाना चाहिये।

९- जीव ईश्वरका अमृतपुत्र है। जब वह जन्म लेता है तो अपने साथ ईश्वरीय ३३ शक्तियाँ साथमें लेकर आता है और यहाँ आकर अपनी शक्तियोंका विकास करता है। एतादृश शक्तिपुंजोंको उत्पन्न करनेमें स्त्रियोंका ही विशिष्ट महत्व है; इसी कारण स्त्रियाँ पूजनीय हैं और इसी कारणको लेकर स्त्री-सम्बन्ध भी पवित्र माना गया है।

१०- इस पृथ्वीपर स्वर्गधामकी रचना करनी है। यहीं जीवित अवस्थामें ही अपनी अनंत शक्तियोंका अनुभव लेना है और यही मानवका ध्येय है। पृथ्वीके ऊपर ही मनुष्यके जीवित रहते हुए उसके लिये यहाँ स्वर्गसुखका उपभोग करना सम्भव है।

वैदिक ऋषियों एवं तत्कालीन युवकोंके सम्मुख ये तत्व रहते थे। चतुर्विध पुरुषार्थ करके अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्राप्तिके लिये अनुशासनशील मनुष्योंका निर्माण करना ही उनका उद्देश्य था। इस कारण मनुष्यका प्रत्येक दिवस एवं प्रत्येक निमेष इस ध्येयको पूर्ण करनेके लिये ऋषियोंने बांध रखा है। बाल्यावस्था, यौवन, उत्तर आयु आदि सब बंधे थे। यह इस प्रकारकी परिपाटी अनेक वर्षों चलती रही। हजारों वर्षोंतक यह आर्य जाति सामर्थ्यसंपन्न, ऐश्वर्यसंपन्न एवं वैभवसंपन्न रही तथा इसने ' समुद्रवलयाङ्कित सम्पूर्ण पृथ्वीका एक राजा हो ' की घोषणा की।

बुद्धका विद्रोह

इसके पश्चात् बुद्धका जन्म हुआ। इसने इस अनुशासनके विरुद्ध मानो विद्रोह खडा कर दिया। कठोर अनुशासनसे ऊब जाना मनुष्योंके लिये स्वाभाविक ही था। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यंत कर्म करनेका कार्यक्रम समाप्त होता ही न था। ऐसी स्थितिमें बुद्धने कहा कि ' ओं मणि पद्मे हूँ ' इस मन्त्रका जप करनेपर तुम्हें अपना निर्वाण स्वयमेव प्राप्त होना सम्भव है। उसके लिये इतना प्रयत्न करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। यह संसार असार है। विश्व दुःखमय है, यहाँ रोग हैं, मृत्यु है तथा दुःख भरा हुआ है। विश्व एक बडा जेलखाना है। इस जेलसे मुक्त होनेके लिये यह जप करना ही पर्याप्त है। स्त्री पापिणी है। उसीके कारण यह जीव बन्धनमें आता है। इसलिये स्त्री सम्बन्ध नहीं करना चाहिये। शरीर एक पिंजरा है। यह पीप, विष्ठा और मूत्रका पिण्ड है। पापभोगके लिये ही जीव शरीरमें आता है। यह शरीर अपवित्र है। उसे उपवाससे कृश करना चाहिये और महाप्रस्थानकी तैयारी करनी चाहिये तथा निर्वाणको प्राप्त करना चाहिये।

ऋषियोंकी दृष्टिमें यह शरीर देव-मन्दिर या ऋषि-आश्रम था, वह बुद्धकी दृष्टिमें पीप-विष्ठा-मूत्रका गोला बना। शरीरको दीर्घायु बनाकर सामर्थ्य युक्त बनानेका ध्येय ऋषियोंका था; वह नष्ट होकर उपवासों द्वारा उसे सुखानेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई!! शरीर एवं विश्वको बंधन-रूप सिद्ध किया गया। शरीरको अपवित्र रूपमें देखनेकी प्रवृत्तिका आरम्भ हुआ। स्त्रीको पापोंकी खान माना गया!! पाठक यदि विचार करेंगे तो उन्हें विदित होगा कि ऋषियोंके जो जो विचार थे वे सब यहाँपर सुखप्राप्ति और सुव्यवस्थाके स्थायित्वके लिये आवश्यक थे। वे सब

इस बुद्ध विचारधाराके कारण दूर हो गये तथा इस विश्वकी ओर हीन बुद्धिसे देखनेकी आदत लोगोंमें पड़ गई !! बुद्धने विचारभ्रष्टताका प्रारम्भ किया।

ऐसा क्यों हुआ ? ऋषियोंके ऐसे उदात्त विचार इस प्रकारके इस आक्रमणके सामने कैसे न टिक सके, यह बात सचमुच विचारणीय है।

इसका मुख्य कारण यह है कि, वैदिक कर्मकाण्डमें अनुशासनका पालन करनेपर बहुत जोर दिया गया था। निरन्तर योग्य कर्म करते रहनेका नियम कठोरतापूर्वक सबके लिये लागू रहता था। व्यक्तिकी उन्नति, कुटुम्बका पालन, राष्ट्र-संगठन, रोगनिवारण आदि अनेक प्रकारके कार्य यहाँ इस पृथ्वीके ऊपर स्वर्गका निर्माण करनेके लिये एकके बाद दूसरे कार्यक्रमके रूपमें जारी थे। ऐसे अवसरपर यदि कोई कहे कि- 'यह इतना अध्यवसाय किसलिये ? यह संसार तो दुःखमय है, शाश्वत सुख तो निर्वाणमें है और वह इस जप द्वारा प्राप्त हो सकता है। व्यर्थ ही इतने कार्यव्यापोंमें किसलिये पड़ते हो ?'

जन साधारणको सदैव अनुशासन नहीं भाता। शान्ति पूर्वक यदि शाश्वत सुखकी प्राप्ति सम्भव हो तो उस ओर सबका ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक ही है।

बुद्धने जनताका ध्यान प्रत्यक्ष ऐहिक सुखसे हटाकर अप्रत्यक्ष निर्वाणकी ओर खींचा तथा लोगोंको स्वाभाविक रूपसे जो रुचता है वही मार्ग निर्दिष्ट किया। उस कालमें खानेपीनेकी पूरी सुविधा थी। बाहरके आक्रमण नहीं होते थे। जमीन खूब उपजाऊ थी। प्रत्येक दृष्टिसे सुखचैन थी। ऐसी स्थितिमें बिना किसी प्रयत्नके भी आजीविका सम्भव थी। यही कारण था कि बुद्धका यह निष्क्रियतावाद भी पनप सका एवं निम्नस्तरकी जनता उसमें फंसती चली गई! तथापि उसका राष्ट्रपर होनेवाला दुष्परिणाम बहुत बादमें प्रत्यक्ष हुआ, उसके लिये अनेक वर्षोंका समय लगा।

लोग अनुशासनहीन एवं आलसी बन गये। स्त्री पुरुषोंको खानेपीनेके लिये पर्याप्त था, अनुशासन भी आवश्यक न था और काम भी आवश्यक न था। केवल जप करते रहना पर्याप्त था। इसका परिणाम यह हुआ कि विहारोंमें क्रमशः अनाचार बढ़ता गया !!! यह देखकर बुद्धको अपनी वृद्धावस्थामें अत्यन्त दुःख हुआ था! किन्तु जनताके जिस प्रवाहको उन्होंने एक विशेष दिशामें मोड़ दिया था उसपर पुनः काबू पाना अब उसकी शक्तिके बाहरका काम था।

यों बुद्ध सचमुच बहुत बड़ा था। किन्तु समाज और राष्ट्रको उच्च भूमिकापर लेजानेके लिये जिस ज्ञानपूर्ण एवं अनुशासनपूर्ण योजनाकी आवश्यकता रहती है, वह उसके पास न थी। बड़े आदमीकी गलती भी बहुत बड़े दुष्परिणामका कारण सदैव होती आई है। इस नियमके अनुसार जो सत्प्रवृत्त बड़प्पन था, वही राष्ट्रके लिये इस प्रकार घातक सिद्ध हुआ!

बुद्ध साम्राज्य ध्वस्त क्यों हुआ ?

सम्राट् अशोकने बुद्धधर्मको स्वीकार किया और अपना सारा खजाना बुद्धके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिये लगा दिया। जो बौद्ध बन जाता था उसकी आजीविकाका पूरा प्रबन्ध राज्यकी ओरसे होता था! यदि इस प्रकार कोई अन्य सरकार भी करने लगे तो सभी लोग उस तरफ दौड़ेंगे ही। यही कारण हुआ कि उस समय सम्पूर्ण देशमें भिक्षु एवं भिक्षुणियोंकी बाढसी आगई! प्रत्येक परिवारमेंसे इस प्रकार कोई न कोई भिक्षु बनने लगा। उनकी आजीविकाका प्रबन्ध सरकार करती थी। इन भिक्षुओंका सन्मान भी उस समय बहुत था। स्वयं सम्राट् अशोकका पुत्र भिक्षुक बना था! अनेक सरदारोंके होनहार पुत्र भिक्षु बनकर बौद्ध धर्मके प्रचारक बन गये थे! ऐसी स्थितिमें जो भिक्षु न बने वही यदि मूर्ख ठहरे तो इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है! अशोकका खजाना खाली होने लगा। देशके अन्दरके गुण्डोंकी व्यवस्थाके लिये संरक्षक दलमें भरती होनेके निमित्त और सेनामें भरती होनेके निमित्त युवकोंमें उत्साह ही न रहा। यह उत्साह घटता चला गया और अन्तमें परिणाम यह हुआ कि यह बौद्ध साम्राज्य ३०-४० वर्षोंमें ही ध्वस्त हो गया !!!

संरक्षणव्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था यदि उध्वस्त होने लगे तो भला कौनसी राज्यव्यवस्था टिक सकती है? जो सम्राट् अशोक भारतके बाहरकी पृथ्वीका भी अधिपति था, वही बौद्धधर्मका अनुयायी बन जानेपर ३०-४० वर्ष भी अपने साम्राज्यको स्थिर न रख सका।

यह सच है कि इसने आसपासके देशोंमें बौद्ध धर्मका प्रचार किया। किन्तु वे सबके सब देश इस बुद्धधर्मके 'क्षणिकवाद एवं दुःखवाद' के कारण समुन्नत हुए हुए कहीं भी दिखाई नहीं देते। सर्वत्र यही दिखाई देता है कि ये सब देश यवनोंके आक्रमणसे पादाक्रान्त हुए। उनमें स्वसंरक्षणकी शक्ति ही अवशिष्ट नहीं रह गई थी। वही स्थिति भारतकी भी हुई हुई हमें दिखाई देती है। जापानने जब बौद्ध धर्मका त्याग कर दिया तभी वह उन्नत हो सका। इसके अभावमें तिब्बत पिछडा हुआ ही रहा। क्यों कि आज भी वहाँ बौद्ध परंपरा विद्यमान है। प्रायः वहाँके सब लोग प्रार्थनाचक्रको घुमाते हुए ही दृष्टिगत होते हैं। प्रार्थनाकी दीवारें भी उन्होंने खोद रखी हैं। उनके केवल स्पर्शसे ही सीधे निर्वाण प्राप्त हो जाता है। आज उस तिब्बतपर लाल आक्रमण हो चुका है। अब संभव है कि वहाँ की बुद्धकी काल रात्री समाप्त होकर ज्ञानका प्रकाश व कर्तव्यका ज्ञान उत्पन्न होगा।

बुद्ध धर्मकी छाप कायम है

जो तत्वज्ञान इस जगत्को दुःखमय मानता है और जो शरीरको ही बन्धनरूप समझता है, उनके द्वारा मनुष्योंका उद्धार किस प्रकार सम्भव है! इस प्रकार यह बौद्ध धर्म निराशावादी है। भला कौनसा ऐसा राष्ट्र है जिसका कल्याण या अभ्युदय निराशावादसे सम्भव है? अर्थात् बुद्धधर्म इस रूपमें संसारके लिये एक विकट संकट ही है। उसकी छाप भारतसे हट जानेपर भी आज बहुतकुछ विद्यमान है। हमारी धारणायें एव प्रवचन आदि सब आज भी इसी प्रकारसे निराशावादसे प्रभावित हैं। अभीतक बौद्धमतोंकी छाया हमारे सिरसे दूर नहीं हो सकी है।

सन्तोंने बुद्धके मन्त्रोंका निष्कासन करके अपने देवताओंके मन्त्रोंका प्रसार किया यह सत्य है। किन्तु आचार विचारमें वे सब बुद्धके ही समीप बैठते हैं। केवल नामजपसे परकीय राज्य नष्ट होकर स्वराज्यकी स्थापना नहीं हो जाती। गत कॉंग्रेसके आन्दोलनमें, लोकमान्य तिलकके आन्दोलनमें अथवा महात्मा गान्धीके आन्दोलनमें इन भक्तों द्वारा कोई विशेष कार्य न होनेका प्रधान कारण यही है।

यदि कहीं कोई सन्त जनतासेवक हो जाय तो लोगोंमें कुछ आशा अवश्य उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार मध्य प्रान्तमें संत तुकडोजीने बडा अच्छा कार्य कर दिखाया है। किन्तु इसे अपवाद मानना चाहिये। इस प्रकारके सन्त पिछले ३०० वर्षोंमें कितने हुए हैं?

हाँ, रामदास स्वामीने कमरपर हाथ रखकर केवल खडे रहनेवाले विठोबाको दूर किया और धनुर्धारी रामको जनताके सन्मुख खडा किया तथा हनुमानकी स्थापना बलवृद्धिके निमित्त की। इसके पीछे बहुतकुछ राजनीतिका हाथ था। यही कारण है कि जिससे सन्त और भक्त रामदास स्वामीका नाम भी नहीं लेते !!!

सभी सन्तोंकी हलचल लगभग बुद्धकी ही अनुगामिनी है। उनमें अंशतः ऋषिधर्म विद्यमान है, किन्तु अधिकांश बुद्धविचार हैं। इसलिये उनके द्वारा किसी भी सामुदायिक कल्याणका उपक्रम सिद्ध होना सम्भव नहीं है।

इस प्रकारका आदर्श रखनेवाले भला स्वराज्यमें क्या कार्य कर सकते हैं? आज हमें अनेक शताब्दियोंके पश्चात् स्वराज्य प्राप्त हुआ है। अब तो प्रत्येक व्यक्तिको अपना सामर्थ्य बढानेके लिये उठकर यत्नशील होना चाहिये। इन प्रयत्नोंके पीछे जो विचार परंपरा होनी चाहिये वह आशावादी हो या निराशावादी यह प्रश्न मुख्य है। पाठक इसका विचार करें।

इस लेखमें हमने वैदिक विचार परम्पराका निर्देश किया है और बुद्धपरम्पराका भी उल्लेख किया है। वैदिक विचारपरम्परा आशावादी है और इसके द्वारा हमारा स्वराज्य आज सचमुच स्वर्गधाम बनाया जा सकता है। अन्य जो विचारधारायें हममें आज काम कर रही हैं वे जितनी शीघ्रतासे दूर होंगी उतनी शीघ्रतासे हमारा स्वराज्य दृढमूल होगा और हमें इस स्वराज्य द्वारा स्वर्गीय सुख मिलना भी सम्भव होगा। ऐसे समय 'जलसिंचनसे अभिवृद्ध करनेवाला तथा कुल्हाडीसे काटनेवाला हमारी दृष्टिमें समान होगा या हम दोनोंको ही समानरूपसे आश्रय देनेका यत्न करेंगे' जैसी भावनायें यदि काम करेंगी तो यह निश्चित है कि कुल्हाडीसे हमारे वृक्षका ही विनाश होगा। दुःखका विषय तो यह है कि इस विचारधाराके कारण हमारा विनाश जारी है।

अतः वैदिकविचारधारा किस प्रकार शुद्ध आशावादी थी एवं उसका आदर्श क्या था तथा किस प्रकार वह दृढमूल थी इसका विचार अग्रिम लेखमें करेंगे।

[लेखांक ३]

संस्कृतिका स्वरूप

संस्कृति शब्द (सं इति एकीभूय कृतिः) इस प्रकार बना है। जातिशः, संघशः, राष्ट्रशः जो कृति होती है वही संस्कृति है। जैसी जाति बनती है, वैसी ही उस जातिकी व्यक्ति बना करती है। किन्तु संस्कृति वह चीज है जो समूह द्वारा बनाई गई होती है। समूहमें विद्यमान व्यक्ति समूहके अनुशासनके अनुरूपही व्यवहार किया करती है, यह सत्य है; किन्तु उस पर समाजका अनुशासन रहता है।

संस्कृतिका अर्थ (सम्यक् कृति) उत्तम कृति नहीं। आज हम एक ही देशमें रहनेवाले भिन्न भिन्न धर्मोंके लोगोंके भिन्न भिन्न आचरण देख ही रहे हैं। उनमें हिन्दु, मुसलमान, पारसी, इसाईका जातिशः आचरण किस प्रकारका होगा, यह हमें पहिलेसे ही विदित रहता है। अमुक लोग अमुक प्रकारका आचरण करेंगे ऐसा जो हमें मालूम रहता है वह प्रायः ठीक निकलता है। साधारण अपवादोंपर हम ध्यान नहीं देते। यही सामुहिक कृति है और इसीको संस्कृति कहा जाता है।

भारतीय संस्कृतिका जो अतिप्राचीन कालका वैदिक विचार प्रवाह था; उस विचार प्रवाहकी और विश्वके देखनेका जो दृष्टिकोण था उसे हमने पिछले लेखमें दिखाया है। वैसा दृष्टिकोण वर्तमान कालमें प्रचलित किसी भी धर्ममें नहीं है। केवल हिन्दु धर्ममें वह थोडासा है, किन्तु वह बुद्धके कुविचार प्रवाहसे प्रक्षित है यह हम देख चुके हैं। हमें इस लेखमालामें यह बताना है कि इन प्राचीन ऋषियोंने विचारोंका जो चौखटा बनाया था वही सच्ची मानवोन्नतिका साधक था। इसीलिये आज भी हमें उसीका शुद्ध रूपमें स्वीकार करना चाहिये। तभी हमारा स्वराज्य टिक सकता है, बढ सकता है और विश्व-कल्याणका सामर्थ्य इसमें उत्पन्न हो सकता है।

पृथ्वीपर स्वर्गका राज्य

पृथ्वीपर स्वर्गकी सुव्यवस्था निर्माण करनेकी कल्पनाका विचार हम प्रथमतः करेंगे। पृथ्वीपर स्वर्गका राज्य स्थापित करना, पृथ्वीपर देवोंका राज्य स्थापित करना आदि कल्पनायें प्रायः इसाई धर्ममें हैं और सम्भवतः मुसलमानी, यहूदी धर्ममें भी वे होंगी। हिन्दुधर्ममें तो वे हैं ही। स्वर्गका राज्य कैसा होता है, उसकी तैयारी करनेके लिये यहाँ पर क्या क्या करना होता है तथा यहाँ स्वर्गधाम स्थापन करनेका अर्थ क्या है, इसका विस्तार पूर्वक ऊहापोह करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वर्गमें क्या क्या होता है तथा उसकी प्राप्तिके लिये क्या क्या करना पडता है, केवल इसीपर हम संक्षेपसे विचार करते हैं जिससे यह स्वयं पता लग सकेगा कि उसका परिणाम पृथ्वीपर किस प्रकारका और क्या होगा।

स्वर्गका वर्णन पुराणोंमें बहुत है। किन्तु हम कठोपनिषद्का संक्षिप्त वर्णन ही यहाँ लेंगे। यह वैदिक ग्रन्थमें होनेके कारण इसका महत्व बहुत है।

१- स्वर्गलोके किंचन भयं नास्ति।
२- न तत्र जरा, न मृत्युः बिभेति।
३- उभे अशनाया पिपासे तीर्त्वा,
४- शोकातिगः मोदते। (कठ)

(१) स्वर्गमें भय नहीं है, रास्तेमें चलते समय पीछेसे आकर कोई छुरा भोंक देगा, घर जला देगा, लूट लेगा, कुछ चुरा लेगा, घरसे बाहर घूमने जानेपर वहाँ कोई आक्रमण कर देगा आदि भय वहाँ नहीं है। स्वर्गके राज्यमें पूर्ण निर्भयता है। कुमारियाँ अथवा स्त्रियाँ उद्यानोंमें घूम सकती हैं। उन्हें कोई भयभीत नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य निर्भयतापूर्वक वहाँ संचार कर सकता है। इस प्रकारकी निर्भयताका होना कितने बडे सुखका कारण है?

(२) वहाँ बुढापे तथा अपमृत्युका भय नहीं है। 'मृत्युका भय नहीं' इसका अर्थ अपमृत्यु या अकाल मृत्यु नहीं ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि सब ऋषि मुनि मर चुके हैं। यहाँ बुढापेमें भी यौवनकी स्फूर्ति कायम रह सकती है। अपमृत्युका कष्ट रोगोंके कारण होता है। रोगादि कम होनेपर तथा सकस अन्न मिलते रहनेपर बुढापा दूर होजाता है एवं उस अनुपातसे अपमृत्यु भी दूर होजाती है।

(३) खाने पीनेका पूरा आनन्द स्वर्गमें रहता है, यह उपर्युक्त वचनोंमें कहा ही है। जब जो खाने पीनेकी इच्छा हो वह तुरत इच्छा होते ही प्राप्त होजाता है। तब फिर अकालके कारण मनुष्य क्यों मरने लगे? अर्थात् वहाँ अकाल नहीं है और खानेपीनेकी सामग्री भरपूर है।

४- वहाँ शोक करनेका कोई कारण ही नहीं है। क्योंकि वहाँ निर्भयता है, रोगादि नहीं है, अपमृत्यु नहीं, वृद्धावस्थामें तारुण्यकी स्फूर्ति है, यथेच्छ भोजन सामग्री है, फिर भला वहाँ शोक क्योंकर होने लगा!

इसलिये स्वर्गमें आनन्द ही आनन्द रहता है। ऐसा ही आनन्द इस धरतीपर निर्माण करनेकी ऋषियोंकी महत्वाकांक्षा थी। वे कहा करते थे कि—

यत् देवाः अकुर्वन् तत् करवाणि (शतपथ)

' जिस प्रकार देवता आचरण किया करते हैं, वैसा हम करें ' जिससे देवलोकके समान ही आनन्द हमें प्राप्त हो। यह सरल मार्ग वैदिककालमें मनुष्योंके सामने था।

गृह मन्त्रियोंका कार्य

अब हम वर्तमान विचारसरणीसे विचार करें। और देखें। यदि उपर्युक्त चार बातें हम साध्य कर सकें तो हमें क्या मिलेगा? आज हमारे देशमें ऐसी परिस्थिति नहीं है कि हम निर्भयतापूर्वक संचार कर सकें। अमुक गलीमें अमुक बस्ती है, वहाँ कोई पीछेसे आकर कहीं छुरा न भोंक दे, रात्रीमें पति पत्नी साथमें जाय तो स्त्रियोंके लिये खतरा है, इस प्रान्तमें रेल्वेकी दुर्घटनायें होती हैं, लूटमार जारी है आदि अव्यवस्थाओंका भय नहीं होना चाहिये। यदि हम ऐसा करना चाहें तो हमारे गृहमन्त्रीके लिये यह अन्तर्गत संरक्षणका कार्य बहुत है, इसे हम अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। हमारे गृह तथा संरक्षण मन्त्रियों को चाहिये कि वे इस राष्ट्रमें ऐसी निर्भयता निर्माण करें।

आरोग्य मन्त्रीका कार्य

दूसरा कार्य आरोग्य मन्त्रीके कर्तव्योंमेंसे एक है। राष्ट्रमें आरोग्यकी वृद्धि करना, रोगादि कम करना, सांसर्गिक एवं तात्कालिक रोगोंका निवारण करना आदि कार्य आरोग्य मन्त्रीका है। आज हमारे देशमें रोगादि खूब हैं; अपमृत्यु तथा अकाल मृत्युका जोर है, बालमृत्यु तो सबसे अधिक है। रामराज्यमें जब एक बाल मृत्युकी घटना हुई तो उस समयके लोगोंको उसका आश्चर्य हुआ। लोगोंने रामकी राज्यव्यवस्थाको इसके लिये उत्तरदायी ठहराया, यह हम देखते हैं। सचमुच इन सब बातोंके लिये सरकार ही उत्तरदायी है। व्यक्तिशः कोई भी राष्ट्रीय आरोग्यकी रक्षा नहीं कर सकता। यह बात तो राज्य-शासन द्वारा ही सम्भव है और राज्यशासन अर्थात् आरोग्यमंत्रीको ही करना चाहिये। यदि उचित व्यवस्था की जा सकी अर्थात् वैयक्तिक आचरणका सुधार एवं राष्ट्रीय आरोग्यका संवर्धन किया जा सकता तो यह सम्भव है कि राष्ट्रमें रोगादि तथा अपमृत्यु दूर की जासके। यह इतना कार्य आरोग्य मन्त्रीके लिये ' इस स्वर्गके वर्णन द्वारा ' प्रस्तुत किया गया है। हमारे स्वास्थ्य मन्त्री को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

अन्न मन्त्रीका कार्य

राष्ट्रमें खानेके लिये पर्याप्त एवं पुष्ट खाद्य होना चाहिये तथा पौष्टिक एवं आरोग्यवर्धक पेय यथेच्छ मिलना चाहिये तथा सभीको मिलना चाहिये। स्वर्गमें सभी निवासियोंका दर्जा समान होता है। वहाँ राजा, राजपुरुष, प्रजा एवं हरिजनका भेद नहीं रहता। अर्थात् अमुक आदमी धनवान है इसलिये उसे भोजन अधिक तथा अमुक हरिजन होनेके कारण उसे वह नहीं, ऐसी स्थिति स्वर्गमें नहीं है। जनता भूख एवं प्यासके दुःखसे परे रहनी चाहिये तभी जरा और अपमृत्यु दूर होंगे और वृद्धावस्थामें भी तारुण्यकी स्फूर्ति रह सकती है। तृष्णा केवल जलसेही तृप्त की जा सकती है, ऐसी बात नहीं है। स्वर्गमें अष्टवर्ग वनस्पतिका रस और इनके पेय वहाँ मिलते हैं। उनमें सोमरस मुख्य है। ये रस रोग दूर करनेवाले, आरोग्य, एवं बल बढानेवाले तथा प्रसन्नता बढानेवाले हैं। इस भूमिपर भी ये मिलने जैसे है; क्योंकि ये वनस्पतियाँ भूमिपर ही उत्पन्न होती हैं। हमारे अन्न मन्त्रीको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे सबको ये रस अच्छी स्थितिमें मिल सकें।

राष्ट्रमें निर्भयता उत्पन्न होजाना, आरोग्य वृद्धि होना, खानेपीनेका कष्ट न रहना, अपमृत्यु दूर होना, आयुमर्यादाकी वृद्धि होना सर्वत्र आनन्दही आनन्दका उत्पादक है। इसी स्थितिका नाम स्वर्ग है और इसीका अर्थ पृथ्वीपर स्वर्गधामका निर्माण करना, रामराज्य स्थापित करना तथा जो देवता करते हैं वही करना है।

मनुष्यके लिये यह सब कुछ सम्भव है। स्वर्गमें सर्वत्र नंदनवन, उद्यान, निर्मल जलप्रवाह, पुष्पवाटिका आदिके अस्तित्वका वर्णन है। हम अपने राष्ट्रमें भी वैसा सबकुछ कर सकते हैं। जैसा बड़े लोगोंका आचरण होता है उसी-का हमें भी अनुकरण करना चाहिये और उन जैसा बननेके लिये खूब प्रयत्न करना चाहिये।

कृपया पाठकवर्ग इसका विचार करें कि इन कल्पनाओं-का परिणाम पृथ्वीपरके जीवनमें किस प्रकार संभव है। ऋषि पृथ्वीपर स्वर्ग बनाना चाहते थे। पृथ्वी वासियोंका जीवन उन्हें स्वर्ग जैसा आनन्दमय बनाना था। इसीलिये स्वर्गका आदर्श वर्णन उन्होंने किया, यह बात इसके साधनमार्गका जो वर्णन है उसे देखनेपर स्पष्टतः विदित होजाती है। अतएव इस साधन मार्गका यहाँ किंचित् दिग्दर्शन किया जाता है।

स्वर्ग्यं अग्निं गुहायां निहितं विद्धि।

त्रिणाचिकेतः, त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्०।

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ (कठ)

'स्वर्ग प्राप्त करादेनेवाला अग्नि बुद्धिमें ज्ञानरूपसे अवस्थित रहता है' यह बात प्रथम जाननी चाहिये। बाल्यकाल, यौवन तथा वार्धक्य इन तीनों अवस्थाओंमें इस ज्ञानाग्निको प्रदीप्त करके सततज्वलित अवस्थामें रखना चाहिये। माता, पिता तथा गुरु द्वारा इस अग्निका संधान करना चाहिये। इसके द्वारा व्यक्ति, समाज एवं विश्व संबन्धि जो जो आवश्यक कर्तव्य हों वे करने चाहिये। इस प्रकार आचरण करनेवाला शोकसे दूर होकर स्वर्ग लोकका आनन्द प्राप्त करता है। यदि यह बुद्धिमें रहने-वाला ज्ञानाग्नि है तो उसका सम्बन्ध हमारे शिक्षामन्त्रीसे अनिवार्य रूपेण है; इस बातको स्वतन्त्रतः सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। अतः उस कार्यका अब निरीक्षण करते हैं—

शिक्षामन्त्रीका कार्य

माता पिता एवं आचार्य द्वारा राष्ट्रके बालकोंको उत्तम ज्ञान प्राप्त हो सके, इस बातका प्रबन्ध करना चाहिये। यह ज्ञान आयुके प्राथमिक भागमें प्राप्त होना चाहिये, अपितु भविष्यमें भी मिलता रहना चाहिये। कुमारावस्थामें ज्ञान प्राप्त करना, यौवनावस्थामें उसे व्यवहारमें लाकर उसका अनुभव प्राप्त करना तथा बादमें उस अनुभूत ज्ञानको भविष्यकी पीढीके लिये प्रदान करना, ये तीन कर्म क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आश्रमोंमें करने होते हैं। मानवी बुद्धिमें रहनेवाला अग्नि इस प्रकार प्रज्व-लित किया जाता है। राष्ट्रकी बुद्धिका अग्नि यदि इस प्रकार प्रदीप्त हो सके तो पृथ्वीपर स्वर्गधामकी स्थापना हो सकती है।

यह शिक्षा गुरुकुल व्यवस्थाके अन्तर्गत होनेवाली शिक्षा है गुरुकुलमें निःशुल्क शिक्षा प्राप्त होती थी। शिक्षक भी बिना वेतन पढाते थे। यहाँ रहनेवाले बालक माता पिताके बालक न होकर राष्ट्रके बालक होते थे। माता पिताका सम्बन्ध उपनयन होते ही टूट जाता था और वे विद्यादेवीके गर्भमें द्वितीय जन्म ग्रहण करनेके लिये प्रविष्ट होजाते थे। अर्थात् इनके पालन पोषण और संवर्धनका भार राष्ट्रपर रहता था। यहाँ ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थीका सम्पर्क रहता था। और ये इस स्वर्ग प्राप्तिके अग्निको बुद्धिद्वारा प्रदीप्त करते थे और उसे राष्ट्रमें सतत प्रज्वलित रखते थे।

इन पर राजाका नियन्त्रण नहीं था, यह एक विशेष उल्लेखनीय बात है। ये सम्पूर्ण शिक्षण संस्थायें ब्राह्मणोंके, और ऋषियोंके आधीन रहा करती थीं। इन पर राजाका या शिक्षामन्त्रीका नियन्त्रण नहीं होता था। आज सभी देशोंकी शिक्षा-व्यवस्था राजाके नियन्त्रणमें रहती है। हमारे देशका शिक्षण भी राजसत्ताके नियन्त्रणके अन्तर्गत ही है। कोई कितना ही सुविचार करनेवाला होनेपर भी उसका प्रवेश यदि शिक्षण खातेमें होसके तो ही उसे शिक्षण विषयक सुधार करनेका अधिकार है अन्यथा नहीं; आज शिक्षणकी यह ऐसी परिस्थिति है और यह स्थिति परतन्त्रताकी है। वैदिक कालमें शिक्षण-व्यवस्था स्वतन्त्र थी।

यद्यपि हमने इस लेखमें 'शिक्षामन्त्रीका कार्य' शीर्षक दिया है तथापि सरकार नियन्त्रित शिक्षण तथा स्वतन्त्र शिक्षणमें जो अन्तर है वह यहाँ निर्दिष्ट है यह न भूलना चाहिये। जो स्वतन्त्र शिक्षणरूपी महान् शक्ति वैदिक कालमें प्रजाके पास थी वह आज नहीं है।

मातापिता एवं शिक्षकके द्वारा युवकोंकी बुद्धिमें स्थित ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होवे, प्राचीन विद्याका योग उन्हे प्राप्त होवे, और वे युवक वैयक्तिक-राष्ट्रीय-जागतिक कर्तव्य करने योग्य बनें। इस प्रकारके लोगोंद्वारा आरोग्य, खान-पान आदिकी योजनायें बनायी जावें, जनतामें जो भय और शोक है उसे दूर किया जावे, जिससे कि इस पृथ्वीपर स्वर्गधामके आनन्दका अनुभव हो सके। यही संक्षिप्त अभिप्राय यहाँ है।

इस लेखमालाके पहले लेखमें ' वैयक्तिक-राष्ट्रीय-जागतिक शांति स्थापनका ध्येय तथा समुद्रवलयाङ्कित पृथ्वीपर एक आर्यराजा वैदिक अनुशासनके अनुसार राज्य करनेवाला हो ' आदि वैदिक घोषणाओंका उल्लेख किया है। इन घोषणाओंके साथ इस लेखके शिक्षण-संरक्षण-निर्भयीकरण-आरोग्य वर्धन आदि कार्यक्रमका मेल करके देखना चाहिये। इस प्रकार राष्ट्रीय उत्कर्षका एक भव्य नक्शा पाठकोंके सन्मुख उपस्थित हो सकता है। इसीका विचार अगले लेखमें विस्तार पूर्वक होना है।

अनुवादक— महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर, साहित्यरत्न

सौन्दर्य भावना

सुन्दर नीर समीर बहे नित,
सुन्दर हों सब धाम हमारे।
सुन्दर शान्त सहृदय सुहृद हों,
सुन्दर हों सब काम हमारे,,
सुन्दर सुमन सुरभ उपवनमें,
सुन्दर हों उद्यान हमारे।
सुन्दर कमल खिलें तालों में,
सुन्दर हों सब ध्यान हमारे,
सुन्दर बूंद गिरें आंखोंसे,
सुन्दर हों अनुताप हमारे।
सुन्दर विधिसे पाप दलन हो,
सुन्दर हों नित जाप हमारे,

सत्, चित्, आनन्द

सत् चित् आनन्द रूप,
भक्त हृदय विहारी हो।
परममित्र, अंग शुद्ध,
तपत चित वारी हो।
अशरण शरण, अतिगति,
सबके हितकारी हो।
प्रेमपुंज दया सिंधु,
शरणागत बलिहारी हो।
तात, मात, भ्रात तुम ही,
जीवनके रखवारी हो॥

कवि- लालचन्द्र

आर्य संस्कृतिपर कुठाराघात

(' हिन्दुजातिका उत्थान-पतन ' पर एक दृष्टि)

लेखक- श्री शिवपूजनसिंहजी ' कुशवाहा ' कानपूर

• • • • • • •

(गताङ्कसे आगे)

आगे इसी काण्डके ५३ सर्ग १-६ श्लोक तक लिखा है कि सब प्रकारके गल्लेसे बनाए पदार्थ, मिष्टान्न, लाजा, पान विशेष, श्रेष्ठ आसव, बडी उत्तम चटनी और बडे उत्तम २ भोज्य पदार्थ, गर्म गर्म चावलोंके भात खीर, दाल, दही; विश्वामित्रजी तथा उनकी फौजने खाया।

परन्तु यहां गोमांसकी कोई चर्चा नहीं। ' उत्तर रामचरित ' की बातें असत्य हो गई क्योंकि वाल्मीकीय रामायणके आगे आधुनिक नाटककी बातें कौन विद्वान् मान सकता है ?

आगे आप पृष्ठ १३६-१३७ में वाल्मी० रामायण उत्तरकाण्डके आधार पर कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीने पत्नी सहित मांस तथा शराबका सेवन किया।

श्रीरामचन्द्रजी महाराज मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते थे और जीवनमें उन्होंने कभी भी मांस, शराबका सेवन नहीं किया *

" न राघवोमांसं भुङ्क्ते न चैव मधु सेवते ॥ "
(वाल्मी० रा० सुन्दर० ३६।४१)

अर्थात्-हनुमान् सीतासे कहता है कि राम न मांस खाता है और न मद्य पीता है।

विद्वान् ' उत्तरकाण्ड ' को वाल्मीकि ऋषि कृत नहीं मानते हैं २०।

अतएव मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी पर आप वाल्मीकिके नाम कलङ्क लगाते हैं।

अश्वमेधयज्ञः-आप पृष्ठ १३८ में अश्वमेधयज्ञके विषयमें लिखते हैं:—

" अश्वमेध शब्दका अर्थ है ' अश्वः प्रधानतया मेध्यते हिंस्यतेऽत्र ' मेध् हिंसने घञ्, अर्थात् जिसमें मुख्य करके घोडेका वध किया जाय वह अश्वमेध है, मेध् धातुसे, जिसका अर्थ मारना है, घञ् प्रत्यय लगाने पर मेध शब्द सिद्ध होता है। यह अर्थ आप्टेके संस्कृत-अंग्रेजी कोषमें लिखा है।

---

* प्रो० रामदेवजी एम० ए० अपने ' भारतवर्षका इतिहास (आर्य तथा वैदिक पर्व) द्वितीयावृत्ति पृष्ठ ३२२ की पाद-टिप्पणीमें लिखते हैं ' फलमूलाशनं च माम् ' अर्थात् फल मूल ही मेरा भोजन है। इन वचनोंको पढकर कौन कह सकता है कि धर्ममूर्ति श्री रामचन्द्रजीने कभी भी मांस खाया होगा। ' रामायणमें जितने वचन श्रीरामके सम्बन्धमें पशु मारने तथा मांस खानेके विषयमें हैं वे सब प्रक्षिप्त वाममार्गियोंके मिलाए हुए हैं। '

पूज्यपादस्वामी ब्रह्ममुनिजी कृत ' रामायण-दर्पण ' प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३६ से ३९ तक।

२० देखो-पं. तुलसीराम स्वामीकृत ' भास्कर-प्रकाश ' चतुर्थ संस्करण पृष्ठ ३३९ से ३४१: प्रो० रामदेवजी एम० ए० कृत ' भारतवर्षका इतिहास (वैदिक तथा आर्य पर्व) द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३४९ से ३५१ तक, पं० राजाराम शास्त्री कृत वाल्मीकीय रामायणकी टीकाकी भूमिका, पं० भगवद्दत्त बी० ए० कृत ' भारतवर्षका इतिहास ' प्रथम संस्करण पृष्ठ ११०, ' मिश्रबन्धुका मासिक ' माधुरी ' वर्ष ६ अगस्त १९२७ ई० पृष्ठ २७ में ' वाल्मीकि रामायणका सार ' शीर्षक लेख, प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०; साहित्याचार्य कृत ' संस्कृत साहित्यका इतिहास ' प्रथम संस्करण पृष्ठ ४३, महामहोपाध्याय श्री आर्यमुनिजी कृत ' वाल्मीकीय रामायणार्य्य टीका ' द्वितीय भाग, प्रथम संस्करणकी भूमिका पृष्ठ ५७, से ६५ तक, डॉ० सत्यनारायण कृत ' वैदिक भारत ' उत्तरार्द्ध, पृष्ठ ३२

समीक्षा:—आप्टे कृत कोष आधुनिक है। वेदके आगे प्रमाणनीय नहीं है।

'अश्वमेध' का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थमें इस प्रकार है:-

"राष्ट्रं वाऽअश्वमेधः। राष्ट्रऽएते व्यायच्छन्ते येऽश्वं रक्षन्ति तेषां यऽउदृचं गच्छन्ति राष्ट्रेणैव ते राष्ट्रं भवन्त्यथ ये नोदृचं गच्छन्ति राष्ट्रात्ते व्यवच्छिद्यन्ते तस्माद् राष्ट्र्यश्वमेधेन यजेत परा वाऽएष सिच्यते योऽबलोऽश्वमेधेन यजते यद्यमित्रा अश्वं विन्देरन्यज्ञोऽस्य विच्छिद्येत पापीयान्त्स्याच्छतं कवचिनो रक्षन्ति यज्ञस्य संतत्याऽअव्यवच्छेदाय न पापीयान्भवत्यथान्यमानीय प्रोक्षेयुः सैव तत्र प्रायश्चित्तिः' (शतपथ ब्रा० १३।१।६।३)

अर्थात्— राष्ट्रका नाम अश्वमेध है। राज्यमें जो यह काम करते हैं वह अश्वमेध है। राज्यमें जो यह काम करते वह अश्वकी रक्षा करते हैं। उनमेंसे जो ऋचा पर नहीं रहते वह राज्यसे भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए राज्यकी रक्षा करनेवाला अश्वमेध (राज्य संघटन) के साथ यज्ञ करता है, इसका बहुत देरसे अभिषेक होता है। यदि बलोंसे रहित अश्वमेध (राज्य प्रबन्ध) करे तो इसका शीघ्र नाश हो जावे। यदि राजा पापी हो जावे तो सैकडों वीर यज्ञकी रक्षा करें। पापी नहीं होना चाहिए, उसके स्थानपर दूसरेका अभिषेक करना चाहिए। यही उसका प्रायश्चित्त है। ×

आप आप्टेको ही परम प्रामाणिक कोष मानते हैं तो उसमें 'मेध' का अर्थ यह भी लिखा है—'An offering और An oblation अब।'

इसके आधारपर 'मेध' शब्दके अर्थ भेंट वा चढावेके हो सकते हैं।

महर्षि दयानन्दजी महाराज 'यदूवध्यमुदरस्यापवातिया……मेधं शृतपाकं पचन्तु' (ऋ० १।२२।१६२।१०)

इस मन्त्रमें आये हुए 'मेधम्' शब्दका अर्थ निघण्टु, निरुक्तानुसार 'मेधम् संगतम्=व्यवस्था करना' करते हैं।

कोलब्रुक महोदयका विचार है:—

The Ashwamedha and Purushmedha celebrated in the manner directed by this Yajurveda are not really sacrifices of horses and men २१

अर्थात्— 'अश्वमेध और पुरुषमेध जो इस रीतिपर यजुर्वेदके अनुसार किए जाते थे वह वास्तवमें घोडों और मनुष्योंके वध-बलिदान नहीं थे।'

(क) अश्वको इस समय भी, जब कि मांसाहारियोंकी संख्या अधिक है, कोई नहीं खाता। इसका मांस सर्वत्र अखाद्य माना जाता है, तब भला ऋषि लोग जो स्वाभाविक अहिंसा प्रिय थे किस प्रकार अश्वका मांस खा सकते थे?

(ख) मांसको अग्निमें डालनेपर उससे दुर्गन्धि ही निकलती है *।

(ग) यदि पूर्व कालमें पुण्य माना जाता था, आपके कथनानुसार गौ, बैल, अश्व, ऋषि लोग मारकर खाते थे तो इस समय लोग क्यों नहीं खाते? बकरा तो खाते हैं फिर अश्व क्यों नहीं?

× 'वह अश्वकी रक्षा करते है' यह शब्द मनन करने योग्य है। कहां हिंसा और कहां रक्षा? रक्षा शब्दने सिद्ध कर दिया कि वैदिककालमें अश्वमेध राज्यवृद्धिके लिए किया जाता था और राज्यकी रक्षा ही उसका लक्ष्य था।

२१ देखो श्री सयाजी साहित्य माला बडौदाके 'समुद्रगुप्त' पुस्तक पृष्ठ ११।

* प्रो० रामदेवजी एम० ए० अपने 'भारतवर्षका इतिहास (वैदिक तथा आर्य पर्व)' द्वितीयावृत्ति पृष्ठ २८८ की पाद-टिप्पणीमें लिखते हैं:- 'तौ मांस रुधिरौघेण वेदितामभ्यवर्षताम्' (बाल० १९।६) महर्षि विश्वामित्रके इस कथनसे तो ज्ञात होता है कि रुधिर और मांस यज्ञको अपवित्र करनेवाले पदार्थ हैं। जो लोग यह कहते हैं कि प्राचीन कालमें यज्ञमें पशुवध होता था। उनके कथनोंका स्पष्ट खण्डन है।'

यदि आप कहें कि ' अश्वालंभं गवालंभं संन्यासं-पलपैत्रिकम् ॥ देवरेण सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत् ' (ब्रह्मवैवर्त पु० खं० ४ अ० ११५ श्लो० ११२ ११३) के अनुसार कलियुगमें निषेध है तो कलियुगमें संन्यास ग्रहण क्यों करते हैं ? शङ्कराचार्य, विशुद्धानन्द, श्री करपात्रीजी महाराज प्रभृति वेदान्त सम्प्रदायियोंने क्यों संन्यास लिए ?

अतएव ' अश्वमेध ' का अर्थ जो आप लगाते हैं वह यथार्थ सिद्धान्त है । यदि आप ' यज्ञ ' शब्द पर ही मनन कर लेते तो आप इस प्रकार न करते और साधारण जनताको भ्रमित नहीं करते ।

देखिए— ' यज्ञ ' शब्दके पर्यायवाची शब्द निघण्टुमें इस प्रकार हैं:—

' यज्ञः, वेनः, अध्वरः, मेधः, विदथः, नार्यः, सवनम्, होत्रा, इष्टिः, देवताता, मखः, विष्णुः, इन्दुः, प्रजापतिः, धर्मः ' (निघण्टु अ० ३ खं० १७) यहां ' मेध ' शब्द भी है । आप ' अध्वर ' शब्दको देखिए ।

' अध्वर ' शब्दकी निरुक्ति (Derivation) में निरुक्तकार यास्क मुनि लिखते हैं:—

' अध्वर इति यज्ञ नाम । ध्वरति हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः ' (निरुक्त० अ० १ खं० ८) ।

निरुक्ताचार्यके इन शब्दोंकी व्याख्या श्री देवराज यज्वा अपने ' निघण्टु भाष्य ' में निम्नलिखित वाक्य द्वारा करते हैं । यथा—

' ध्वरतेर्वधकर्मणः, ' पुंसि संज्ञायां घः (अष्टाध्या० ३।४।११८) नञ्पूर्वः । ध्वरा हिंसा, तदभावो यत्र ॥ ' (निघण्टु० १।१७) ।

इस व्याख्याका तात्पर्य यह है कि ' अध्वर ' शब्द दो हिस्सोंसे बना है । एक ' अ ' और दूसरा ' ध्वर ' । ' अ ' का अर्थ है–निषेध, और ' ध्वर ' का अर्थ है–हिंसा करना या वध करना । इस प्रकार यज्ञका नाम ' अध्वर ' होना ही इस सिद्धान्तकी पुष्टि कर रहा है कि यज्ञमें हिंसा कदापि न होना चाहिये ।

जिसमें हिंसा है वह यज्ञ नहीं । यज्ञमें पशुवधक विधिकी अवस्थामें तो यज्ञका नाम ' ध्वर ' अथवा ' सध्वर ' होना चाहिए था, न कि अध्वर

अब बतलाइये कि हम निघण्टु, निरुक्त आर्ष-ग्रन्थके प्रमाणित मानें या श्री आप्टे महोदय और [illegible] कान्तदेवकी कल्पना मानें ? विज्ञ पाठक ही निर्णय करें।

' अश्व ' शब्दका घोड़ा ही अर्थ नहीं होता, बल्कि अन्य अ[illegible] भी होते हैं । वेदमें जैसा प्रसङ्ग होता है वहाँ वही अ[illegible] माना जाता है । यथा:—

अश्व=तण्डुलके कण (अथर्व० कां० ११ [illegible]
पर्याय १ मं० [illegible])

अश्व=सूर्य

अश्व=अश्वपर्णी या अश्वगन्धा औषधि (यजु० २१ [illegible])

अश्व=एक नक्षत्र (ज्योतिष ग्रन्थ)

' वीर्यं वा अश्वः ' (शतपथ ब्रा० [illegible])

' यजमानो वा अश्वः ' (तै० ३।८।९।[illegible])

' इन्द्रो वा अश्वः ' (कौ० १५।३)

' असौ वा आदित्योऽश्वः ' (तै० ३।९।२३।२)

' अग्निरेष यदश्वः ' (शतपथ ६।३।३।[illegible])

' मेध शब्द पर विचार–यह मेध शब्द भी यज्ञवाची है । इसके मुख्य तीन अर्थ हैं–मेधा बुद्धिका संवर्धन, [illegible]तिकरण अथवा संघटन और हिंसा । ' मेधृ हिंसायां संगमे च ' ये इसके धात्वर्थ हैं । मेध बुद्धिका सं[illegible] और संगम, मिलाप अथवा संघटन ये अर्थ ऐसे हैं [illegible] जिनके विषयमें किसीको भी कोई सन्देह नहीं हो सकता । अतएव ' अश्वमेध ' को ' राष्ट्रं वा अश्वमेधः ' ऐसा [illegible] कहकर स्वयं शतपथकारने ही यह यज्ञ करने राष्ट्र[illegible] कारक है ऐसा कहा है । सम्राट् बननेवाला राजा म[illegible] ओंको युद्धके लिए आह्वान करता है । युद्धके लिए जो [illegible] हैं उनके साथ युद्ध करके उनका पराभव करता है । इ[illegible] प्रकार जो सम्राट् सर्वोपरि शक्तिमान होता है वह भू[illegible]ण्डलका शासक होता है । अश्वमेधकी यह पद्धति ही इसक[illegible] राष्ट्रीयता सिद्ध करती है । आजकल अश्वमेधादिमें [illegible]

मांसकी आहुति देनेकी कल्पना सन्मुख आती है परन्तु प्रारम्भमें अश्वमेधमें जो हिंसा होती थी वह साम्राज्यके शत्रुओंकी ही होती थी। इतना भेद ध्यानमें धरना चाहिये। राष्ट्र-रक्षकोंका रक्षण और राष्ट्र-विध्वंसकोंकी हिंसा यह भाव मेधमें स्पष्ट है। वेदोंमें 'अश्व-वध' का सर्वथा निषेध है। यथा-

'वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानं सरिरस्य मध्ये। शिशुं नदीनां हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्' (यजु० १३।४२)

अर्थ— 'जो वेगमें वायुरूप, राजाका नाभि अर्थात् मुख्याधार, अधिक प्राणशक्तिवान्, वेगमें मानों नदियोंका शिशुरूप, मनुष्योंको पीठपर चढ़ाकर दूर २ देशोंमें ले जानेवाला, तथा जिसका शरीर पर्वतीय कार्योंके योग्य है- उस अश्वकी, हे अग्ने! तू इस लोकमें हत्या या हिंसा न कर।'

शतपथ ब्रा० कां० ७, अ० ५, ब्रा० २ कण्डिका १८ में इस मन्त्रकी व्याख्यामें अश्वके वधका विरोध किया है।

'इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु' (यजु० १३।४८)

अर्थ- 'इस एक खुरवाले पशुकी हिंसा न कर जो कि हेषा-शब्द बारम्बार करता है और जो वेगवालोंमें अत्यन्त वेगवाला है।' इस मन्त्रकी व्याख्यामें शतपथ ब्राह्मणकार कहते हैं-

'एकशफो वा एष पशुर्यदश्वः, तं मा हिंसीरिति' (शत० ब्रा० ७।५।२।३३)

इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्रमें, निश्चयमें, एक शफ शब्दसे अश्वका ग्रहण है। इसलिए एक शफवाले पशु अर्थात् अश्वको तू हिंसा न कर।

अतः शतपथ ब्रा० में भी अश्वकी हिंसाका निषेध अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें मिलता है।

'यो अर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमीतिवरुणः परो मर्तः परः श्वा' (यजु० २२।५)

अर्थ-जो मनुष्य अर्वा अर्थात् अश्वके हननकी इच्छा करता है, वरुण (राजा) उस मनुष्यका वध करता है। वह हिंसक मनुष्य हमारे समाजसे पृथक् हो जाय, वह कुत्ता हमारे समाजसे पृथक् हो जाय। यहाँ अश्वघातीको समाजसे बाहर निकाल देनेका भी दण्ड देना चाहिए अर्थात् उसे जाति बहिष्कृत या समाज बहिष्कृत कर देना चाहिए। अश्वघातीको कुत्ता कहा गया है।

'राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीव बर्हिर्मदिन्तमः' (अथर्व० ११।७।७)

अर्थ— 'राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्कमेध आदि सब अध्वर अर्थात् हिंसा रहित यज्ञ हैं, जो कि प्राणी मात्रकी वृद्धि करनेवाला और सुखशान्ति प्रदायक है।'

इस मंत्रमें राजसूयादि सभी यज्ञोंको 'अध्वर' कहा है। पशु वध करनेपर प्राणी-मात्रकी क्या वृद्धि हुई और उसे क्या सुख-शान्ति मिली, उल्टा प्राणीको हत्या करते समय उसे घोर यातना दी जाती है और उसका जीवन तक समाप्त कर दिया जाता है तब वह कर्म 'जीवबर्हिर्मदिन्तमः' कैसे रहा। चतुर्थ परिच्छेद पृष्ठ १३९-.........

'राजा दशरथने भी पुत्र-कामनासे प्रेरित होकर यह यज्ञ किया था, जिसका बीभत्स वर्णन वाल्मीकीय-रामायण, बाल काण्ड, चतुर्दश सर्गमें पढ़कर हृदय सन्न हो जाता है और अपने पूजनीय पूर्वजोंकी तथाकथित विलक्षण सभ्यता, जिसका ढिंढोरा हम सदा और सर्वत्र पीटा करते हैं, हमारे मस्तकको गर्वसे ऊंचा रखनेकी जगह एक दुर्वह लज्जा-भारसे दबा देता है। '.......आगे आपने वा० रा० से इस प्रसङ्गको उद्धृत किया है।'

समीक्षा—वेद-विरुद्ध बातें प्रमाणकोटिमें नहीं आती हैं। जब वेदमें स्पष्ट अश्व बधका निषेध पाया जाता है तब वाल्मीकीय रामायणके प्रक्षिप्त श्लोकोंको कौन विद्वान् मान सकता है? श्रीमान् शास्त्री जी महोदयका मस्तक इस बीभत्स वर्णनसे लज्जा-भारसे दब जाता है। क्यों नहीं आपका मस्तक दबेगा, आप तो 'संस्कृत वाक्यं प्रमाणम्'। 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' को माननेवाले हैं। आपके पास तर्ककी कसौटी ही नहीं है।

यहाँ पर कौशल्यादि रानियोंसे घोडेका वध कराना और रात्रिभर उस घोडेके निकट प्रसन्न चित्त होकर सोना और

'प्रजनने प्रजननं सन्निधायोपविशति=प्रजनन इन्द्रियमें प्रजनन इन्द्रियका संयोग किया' इत्यादि प्रसङ्गसे स्पष्ट प्रकट होता है कि यह वाममार्गियोंकी कृति है न कि वाल्मीकि ऋषि की। परन्तु आप तो वाममार्गियोंकी कृति कहनेपर भडकते हैं।

श्रीमान् शास्त्रीजी ! यह प्रसंग वेद-विरुद्ध होनेसे वाममार्गकी ही कृति माननी पड़ेगी।

देखिए—महामहोपाध्याय, ऋग्वेदभाष्यकार, विद्वद्वर श्री आर्य्यमुनिजी, प्रोफेसर श्रीमद्दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज, लवपुर लिखते हैं-

'ज्ञात होता है कि यह स्थल किसी वाममार्गीने वाल्मीकीय रामायणमें लिख दिया है, अन्यथा पुत्रोत्पत्तिमें इसका क्या उपयोग, जो इस विषयको विशेष रूपसे देखना चाहे वह पूनाकी छपी हुई वाल्मीकीय रामायणमें इस स्थलको देखे जिसको योग्य पण्डितों ने शोधा है। तदनन्तर सब वेद सम्पन्न ऋत्विजोंने उस घोडेकी चर्बीको लेकर अपनी इन्द्रियोंको वशीभूत करके शास्त्रकी आज्ञानुसार अग्नि पर चढाया, उस समय चर्बी तथा मांसादिके जलनेसे जो सुगन्धित धुँआ निकलता था उसको महाराज दशरथ सूंघ २ कर अपने पाप भस्म करते थे, इस प्रकार सम्पूर्ण विधि करके अश्वमेध यज्ञ समाप्त किया, तदनन्तर ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर राजा दशरथ पापोंका नाश करनेवाला तथा स्वर्ग देनेवाला उत्तम यज्ञ समाप्त करके अत्यन्त प्रसन्न हुए।

इस प्रकारका 'अश्वमेध यज्ञ' इस स्थलमें वर्णन किया है जो ज्ञात होता है कि वाममार्गके समय वाल्मीकीयमें मिलाया गया है सो यह प्रक्षिप्त होनेके कारण हमने निकाल दिया है।

और जो इसको टीकाकारोंके 'गणानां त्वा गणपति ँ हवामहे' इत्यादि वेद मन्त्रोंकी प्रतीकें देकर वैदिक सिद्ध किया है यह उनकी भूल है, क्योंकि उक्त मन्त्रका मृत अश्वसे कोई सम्बन्ध नहीं और ना ही इन मंत्रोंका कोई सम्बन्ध है जिनका यहाँ गर्भाधानमें विनियोग किया है। इस प्रकार समीक्षा करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अल्पश्रुत लोगोंने वेदोंका अर्थाभास करके उनको कलङ्कित किया है। वेद वास्तवमें पवित्र शिक्षाको बतलाते हैं, उक्त प्रकारकी अश्लील तथा घृणित शिक्षाको नहीं।

वस्तुतः पुत्रोत्पत्तिके लिए पुत्रेष्टि यज्ञका उपयोग था और इसी दृष्टिके निमित्त ऋष्यश्रृंगको बुलाया था, जैसा कि आदिमें लिखा है, यह बीचमें अश्वमेधका अनुपयुक्त प्रकरण वेदका नाम लेकर स्वार्थियोंने मिलाया है जिसका उपयोग राज्यके दृढ करनेमें है, हननमें नहीं, पुत्रोत्पत्तिमें पुत्रेष्टि यज्ञका विधान है, जिसको हमने यथावस्थित रक्खा है।' २२

गोमेधयज्ञ—चतुर्थ परिच्छेद पृष्ठ १४६-'शब्द कल्पद्रुमके आधारपर आप लिखते हैं कि गोमेध यज्ञमें गाय मारी जाती थी इससे यजमानको स्वर्ग और गायको गोलोककी प्राप्ति होती थी।'

समीक्षा—'गोमेध' का अर्थ गायका मारना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है।

गोमेधका अर्थ है-'अथ गौः। प्राणमेवैतयात्मनस्त्रायते प्राणो हि गौरन्नं हि गौरन्नं हि प्राणस्तां रुद्राय होत्रे ददात्' (शतपथ ब्रा०का० ४।३।४।२५)

अर्थ-'गौ के विषयमें। प्राणही गौ है। (मनुष्य) इससे अपनी 'रक्षा' करता है। प्राण ही गौ है। गौ रूपी अन्न ही प्राण है, उसको रुद्र होताको दिया।' इससे यह बात सिद्ध हुई कि गौ शब्दके अर्थ उक्त ग्रन्थमें 'अन्न और प्राणके हैं'।

महर्षि गार्ग्यायण कहते हैं- 'गोमेधस्तावच्छब्द मेध इत्यवगम्यते। गां वाणीं मेधया संयोजनमिति तदर्थात्। शब्द शास्त्र ज्ञान मात्रस्य सर्वेभ्यः प्रदा-

२२ 'वाल्मीकीय रामायणार्य टीका' द्वितीय-भागकी भूमिका पृष्ठ २८।२९।३० (सन् १९१२ ई० में बाम्बे यन्त्रालय लाहौरमें मुद्रित)

नमेव गोमेधो यज्ञः । तद्ध वनं च शाब्दिकसन्निधान पदार्थानामेवेति विज्ञेयम् ' २३

अर्थात्-गोमेधका अर्थ है ' शब्दमेध ' । गौका अर्थ है ' वाणी ' * और मेधाका अर्थ है ' बुद्धि ' अतः गोमेधका अर्थ हुआ- ' वाणीका बुद्धिके साथ संयोजन '। सबको शब्द शास्त्रका ज्ञान देना यही ' गोमेध ' है।

' महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि जी ' गोमेध ' का अर्थ करते हैं:-

' मेध्यन्ते पवित्री क्रियन्ते यस्मिन् स गोमेधः '= जिसमें वाणियोंका संस्कार किया जाय ऐसी विराट् सभाका नाम वैदिककालमें ' गोमेध ' था। ' २४

' गोमेध ' का एक और अर्थ हो सकता है-

' जहाँकी भूमि, गौएँ और अन्न क्रमसे उर्वरा, बलवान् और स्वादिष्ट हो, उस स्थानको ' गोमेध ' कहते हैं और ऐसी भूमि बनानेको या नई भूमि तलाश करके उसको इस योग्य बनानेके पुण्य कार्यको ' गोमेध यज्ञ ' कहते हैं। २५

पारसियोंके पवित्र ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे डाक्टर मार्टिन हॉग (जो जन्द भाषाके प्रकाण्ड पण्डित थे) कहते हैं ' गोमेध ' का अर्थ गोवध नहीं, प्रत्युत उसका अर्थ भूमिको उर्वरा बनाकर बनस्पति उगने योग्य कर देना है।

उन्होंने इस प्रकारकी केवल कल्पना ही नहीं की, किन्तु जन्द भाषासे ' गोमेध ' का अपभ्रंश ' गोमेज ' शब्द भी निकालकर रख दिया है।

' गोमेज ' शब्द पर लिखते हुए हॉग साहब कहते हैं-

' The Parsi religion enjoins agriculture as religious duty and this is the whole meaning of Gomez. २६

अर्थात्— ' पारसी धर्ममें कृषि करना धर्म समझा जाता है। अतः खेती धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त क्रियाकलापका नाम गोमेज है।

इससे हमारे शतपथ ब्रा० ' अन्नं हि गौः ' की पुष्टि होती है।

' गौ ' शब्दकी व्याख्या करते हुए श्री यास्काचार्य लिखते हैं:-

' अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति । ' गोभि ' श्रीणीत मत्सरमिति पयसः। मत्सरः सोमो, मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः ' (निरुक्त० अ० २, खं० ५)

इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार श्री दुर्गाचार्य कहते हैं-

' अथाप्यस्यामेव पशुगवि, ताद्धितेन प्रयोगेनाकृत्स्नायां सत्यां कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति ।

तद्यथा गोभि: श्रीणीत मत्सरमिति गोरेक देशस्य पयसः कृत्स्नवत्प्रयोगः । '

अर्थः— ' वेदोंमें गौ शब्द गौके एक देश अर्थात् दूधके लिए भी प्रयुक्त होता है। '

इसके उदाहरणमें यास्काचार्यने ' गोभिः श्रीणीत मत्सरम् ' यह मन्त्र भाग उपस्थित किया है। इसका अर्थ यह है कि ' गौओंके साथ मत्सर अर्थात् सोमको पकाओ। '

इस अर्थसे यह भाव सूचित होता है कि गौके शरीर अर्थात् मांसके साथ सोमरसको पकाओ। परन्तु यह भाव यहाँ न लेना चाहिए। यास्काचार्य कहते हैं कि ऐसे स्थानोंमें गौका अर्थ ' गौका दूध ' हुआ करता है। इसलिए ' गौओंके साथ सोमको पकाओ ' इसका अभिप्राय यह होगा कि ' गौओंके दूधके साथ सोमरसको पकाओ ' न कि गोमांसके साथ। जिस नियम द्वारा गौ शब्दसे गौका दूध

---

२३ देखो- ' प्रणववाद ' तीसरा प्रकरण, छठा तरङ्ग (सन् १९१५ ई० में पं० के० टी० निवासाचार्य द्वारा ब्रह्मवादिन प्रेस मद्रासमें मुद्रित व प्रकाशित)।

* गौ=वाणी (निघण्टु अ० १, खं० ११)

२४ देखो- ' वैदिक कालका इतिहास ' प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५६

२५ देखो- ' वैदिक सम्पत्ति ' द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३८२

२६ ' Essays on the sacred language, writings and religions. '

अर्थ लिया जाता है उस नियमको ताद्धित-नियम कहते हैं।

इसी प्रकार, वेदोंमें गौओं द्वारा यज्ञ करनेका जहाँ २ वर्णन हो, वहाँ २ ताद्धित-नियम द्वारा, गौ शब्दसे गौका दूध रूपी अर्थ समझना चाहिए, न कि गौका मांस।

देखिए— 'तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः। इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे' (ऋ० ८।२।३)

इसका अर्थ यह है कि यज्ञमें, इन्द्रके लिए, हम सोमरसको गौओंके साथ पका कर स्वादु बनाते हैं।

यहाँपर भी ताद्धित-नियम द्वारा गौओंसे गौओंका दूध अर्थ लेना चाहिए, न कि गौओंका मांस।

श्री सायणाचार्यने भी इस मन्त्रकी व्याख्यामें 'गौका दूध' यही अर्थ लिया है।

यदि श्री शास्त्रीजी 'वैदिक कोष' में ही 'गौ' शब्दका अर्थ देख लेते तो यज्ञमें गोवध लिखनेकी शायद भूल न करते।

देखिए-वैदिक कोष निघण्टुमें गौओंके नाम निम्नलिखित हैं:-

अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, अही, मही, अदितिः, इळा, जगती, शक्वरी' (निघण्टु २।११)

इन नामोंमेंसे 'अघ्न्या, अही और अदिति' विचारने योग्य है।

अघ्न्याः—इसका निर्वचन यास्काचार्य यों करते हैं:-

'अघ्न्या अहन्तव्या भवति' (निरुक्त ११।४४)

अर्थात्-गौका नाम अघ्न्या इसलिए है चूंकि वह 'अहन्तव्या'=हनन करनेके योग्य नहीं है।

श्री दुर्गाचार्य जी इस निर्वचनकी टीका इस प्रकार करते हैं.- 'अघ्न्या कस्मात्? सा हि सर्वस्यैव अहन्तव्या भवति'।

इसका अभिप्राय यह है कि गौको अघ्न्या इसीलिये कहते हैं क्योंकि वह सबके लिए ही 'अहन्तव्या' अर्थात् हनन करनेके योग्य नहीं।

एवं, निघण्टु-भाष्यकार श्री देवराज यज्वा 'अघ्न्या अहन्तव्या' लेख लिखते हैं।

'यदाग्ना अघ्न्या इति......' (यजु० २०।१८)

यहाँ 'अघ्न्या' शब्द आया है उसका अर्थ महर्षि दयानन्द जी महाराज अपने भाष्यमें 'न मारने योग्य गाय' करते हैं।

वेद व्यास भी इसकी पुष्टि करते हैं:-

'अघ्न्या इति गवां नाम क एतां हन्तुमर्हति।
महच्चकारा कुशलं वृषं गां वाऽलभेत्तु यः'
(महाभारत, शान्ति प० अ० २६३)

अर्थात्-अघ्न्या गौओंका नाम है, इसका कोई हनन नहीं कर सकता। जो गौ और बैलका हनन करता है वह महा पापी है।

अहीः-इस शब्दके निर्वचनमें निघण्टु टीकाकार श्री देवराज यज्वा लिखते हैं-

'अही न हन्तव्या वा' अर्थात्-गौका नाम अही इसलिए है चूंकि वह 'न हन्तव्या'=हनन करने योग्य नहीं।

अदितिः—इस शब्दके निर्वचनमें निघण्टुकी टीकामें श्री देवराज यज्वा लिखते हैं- 'नद्यति, अखण्डनीया वा'। इसका अभिप्राय यह है कि गौका नाम अदिति इसलिए है चूंकि वह 'अखण्डनीया' है, अर्थात् उसके अङ्गोंको खण्ड २ या टुकड़ोंमें नहीं करना चाहिये।

'अदिति' शब्दमें 'अ' और 'दिति' ये दो भाग हैं।

'दिति' भाग 'दो' धातुसे बना है जिसका अर्थ है 'काटना'।

यथा- 'दो अवखण्डने'। इसलिए अदिति शब्दका अर्थ हुआ 'अ+दिति'=वह जो कि काटी न जाय या काटे जानेके योग्य न हो।

वेदमें आया है- 'गां मा हिंसीरदितिं विराजम्'। (यजु० १३।४३)

अर्थ— गौ जो कि अदिति (न काटने योग्य) है, और जो विराट् अर्थात् अन्नके देनेवाली है- उसकी हिंसा न कर।

'अन्नं वै विराट्, अन्नमु गौः' (शतपथ ब्रा० ७।४।५।२।१९)

' घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ' (यजु० १३।४९)

अर्थ— जनोंके लिए घृत देनेवाली, और न काटने योग्य जो गौ है, उसकी हिंसा इन लोकोंमें न कर।

इस मन्त्रकी व्याख्यामें शतपथकार कहते हैं:- '...घृतं दुहाना मदितिं जनायेति।

...एषु लोकेष्वेनं मा हिंसीरिति ' (शतपथ ब्रा० कां० ७, प्र० ४, अ० ५, ब्रा० २, कण्डिका ३४)

अर्थात्—यह मनुष्योंको घृत देती है। इसका नाम अदित है। अतः इन लोकोंमें इसकी हिंसा न कर।

' अन्तकाय गोघातम् ' (यजु० ३०।१८)

गोघातीको प्राणदण्ड हो।

' मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त।

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रण वोचस्तमिहेह ब्रवः ' (अथर्व० ७।५।२५)

श्री सायणाचार्य जी इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं:- '(मुग्धाः) कार्याकार्य विवेक रहित मूढ (देवाः) यज-मान लोग (उत शुना अयजन्त) अत्यन्त गर्हित पशु कुत्तेसे यज्ञ करते हैं, (उत गौः अङ्गैः पुरुधा अयजन्त) और गौके अङ्गोंसे बहुधा यज्ञ करते हैं। अभक्ष्योंमें चरम सीमा कुत्ता और अवध्योंमें चरम सीमा गौ है। परन्तु ' मुग्धा देवाः आदि वेदाज्ञाके होते हुए भी जो याज्ञिक लोग यज्ञमें पशुवध रूपी इस निन्दनीय कर्मको करते है, यह आश्चर्यकी बात है। ऐसा नहीं करना चाहिए। जो ऐसा करते हैं, वे निस्सन्देह मूढ हैं। '

इस सायणकृत मन्त्रार्थसे यज्ञमें पशुवधका सर्वथा निषेध है।

यद्यपि सायणने अपने पौराणिक संस्कारके कारण अपने भाष्यमें कहीं २ यह लिख दिया है कि ' यज्ञमें मारा हुआ पशु देवत्वको पाता है ' जो अमाननीय हैं।

' न कि देवा इनीमसि। मन्त्र श्रुत्यं चरामसि (सामवेद, छन्दआर्चिक- अ० २, खं० ७, मं० २ तथा ऋ० ५।७। १२।७) (क्रमशः)

ब्रह्म साक्षात्कार

(लेखांक २) अध्याय ३

लेखक— श्री गणपतराव बा० गोरे, ३७३ मंगलवार 'बी', कोल्हापूर

(गताङ्कसे आगे)

खण्ड ८

इंद्रियस्पर्श मंत्रोंके नवीन अर्थ।

ऋषिने संध्यामें इन्द्रियस्पर्शके मन्त्र दिए हैं, जिनके अनेक प्रकारोंके बढे चढे अर्थ संध्याकी पुस्तकोंमें छपे हैं। लेखक तो सुन्दर अर्थ उसीको समझता है, जिसमें अपनी ओरसे मिलावट न हो। ओम् वा सूर्यसे चराचर जगतकी उत्पत्ति कुछ तो सिद्ध हो चुकी है, और कुछ वेदादिके प्रमाणोंसे आगे होनेवाली है। इसी सिद्धान्तको लक्ष्य बनाकर मन्त्रोंका सीधा सादा अत्युत्तम अर्थ निम्न प्रकार होगा—

ॐ वाक् वाक्। ॐ प्राणः प्राणः। ॐ चक्षुः चक्षुः। ॐ श्रोत्रम् श्रोत्रम्। ॐ नाभिः। ॐ हृदयम्। ॐ कण्ठः। ॐ शिरः। ॐ बाहुभ्याम् यशो बलम्। ॐ करतलकर पृष्ठे॥

अर्थ— ॐ= सूर्य वागेन्द्रिय और वाक् शक्ति है। ॐ वा सूर्य नासिका और प्राण शक्ति है। ॐ वा सूर्य आंखें तथा दृष्टि है। ॐ कान तथा सुननेकी शक्ति है। ॐ मेरा केन्द्रस्थान वा नाभि है। ॐ मेरा हृदय है। ॐ मेरा कण्ठ है। ॐ वा सूर्य मेरा शिर है। ॐ मेरी बाहुओंके लिए यश और बल है। ॐ वा सूर्य ही मेरे हाथकी हथेली और हाथकी पीठ है॥

भावार्थ— प्रत्येक अंगपर जलका स्पर्श कराते हुए भक्तको यह मन्त्र स्मरण करा रहा है कि हे भक्त! तेरे **शरीरका अंग प्रत्यंग ॐ वा सूर्यदेव ही है; अतः इन्हें पवित्र रख, कुकर्मोंसे बचा। तेरा सारा शरीर ओमका मन्दिर नहीं, स्वयमेव ओ३म् है!** कितनी उच्च शिक्षा है!

खण्ड-९

मार्जन-मंत्रोंके नवीन अर्थ।

मलोंको धोकर पदार्थोंको शुद्ध पवित्र करनेवाले तत्व साकार वायु अग्नि, जल ही मुख्यतः हैं, निराकार परमात्मा नहीं। इनमें भी अग्नि वा सूर्य सर्वोत्तम हैं। पदार्थ-विज्ञानियों, सुनारोंसे, धोबियोंसे पूछिए। मनुकी साक्षी है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति, मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥
॥ मनु० ५।१०९॥

अर्थ— जलसे शरीरके अवयव शुद्ध होते हैं, मन सत्यसे शुद्ध होता है। विद्या और तपसे-आचरणसे सूक्ष्म लिंग-शरीरसे युक्त जीवात्मा शुद्ध होता है, और ज्ञानसे बुद्धि शुद्ध होती है॥ १०९॥

मार्ज का अर्थ है TO Purify= विजातीय वा बाधक गुणों, द्रव्यों, कर्मों वा स्वभावोंको निकाल देना। TO cleanse= मांजना, मलरहित, वा रोगरहित करना॥ आपटे॥

इंद्रियस्पर्श तथा मार्जन मंत्रोंका देवता सूर्य है!

यद्यपि ये वेदमन्त्र नहीं तथापि इनका देवता निश्चित होना आवश्यक है। मार्जन-मन्त्रोंमें सूक्ष्म जीवात्मा, उसके सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरोंको पवित्र और शुद्ध करवानेकी प्रार्थना है। यह प्रार्थना किसी ऐसे देवसे हो रही है, जो जलों-का स्वामी होनेसे शरीरोंकी, स्वयं सत्य होनेसे मनकी, विद्या= वेदोत्पादक, तप=उष्णता-उत्पादक होनेसे चराचर भूतोंकी, और ज्ञानी होनेसे बुद्धिकी पवित्रता और शुद्धता कर सकता

ो । जो शरीरके बाह्य मलोंको मांजकर, और जीवस्थ सूक्ष्म ुरितोंको एक साथ ही दूर कर सकता हो। यह साकार ूर्यदेव ही है, निराकार, परमात्मा नहीं। अब अर्थ देखिए। ' ओम् ' सूर्य है, यह सिद्ध हो ही चुका है।

मार्जन मन्त्र

ॐ भूः पुनातु शिरसि। ॐ भुवः पुनातु नेत्रयोः। ॐ स्वः पुनातु कंठे। ॐ महः पुनातु हृदये। ॐ जनः पुनातु नाभ्याम्। ॐ तपः पुनातु पादयोः। ॐ सत्यम् पुनातु पुनः शिरसि। ॐ खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥

अर्थ-सूर्यका अस्तित्व मेरे शिरमें पवित्रता करे। सूर्यका ान मेरे नेत्रोंकी पवित्रता करे। सूर्यका आनंद मेरे कंठमें ़वित्रता करे। सूर्यका महत्व मेरे हृदयमें पवित्रता करे। ूर्यकी प्रजनन शक्ति मेरी नाभिको पवित्र करे। सूर्यका ताप मेरे ़ओंको पवित्र करे। सूर्यकी अनश्वरता मेरे शिरमें पुनः ़वित्रता करे। (खं ब्रह्म ॐ) आकाशका ब्रह्म सूर्य मुझे ़र्वत्र शुद्ध तथा पवित्र करे॥

अर्थ स्पष्ट है, अतः अधिक व्याख्याकी आवश्यकता नहीं। त्रोंमें संबंध रखनेवाला, आकाशस्थ, महान, तथा ताप ़ा उष्णता देनेवाला ॐ साकार सूर्य ही हो सकता है, ़राकार परमात्मा कदापि नहीं!

ण्ड १० ।

प्राणायाम मंत्रमें सूर्योपासना!

प्राण नाम सूर्यका भी है, यथा-

प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥ अ० ११।४।१०॥ प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमा प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥ अ० ११।४।१२॥ प्राणाद्वायुरजायत॥ ऋ० १०।९०।१३॥ सूर्यसे वायु उत्पन्न हुआ। काले प्राणः॥ अ० १९।५३।७॥ सूर्यमें वायु है (देखो ॐ की व्याख्या). ऐन्द्रः प्राणो अंगे अंगे॥ वा० य० ६।२०। सूर्योत्पन्न प्राण अंग अंगमें समाया है। लेख बढ रहा है, अतः पूर्ण अर्थ नहीं दिये.

आयामः=Extension=विस्तार। Expansion= ़ैलाव, वृद्धि॥ आपटे॥

अब प्राण+आयामः का एक अर्थ होगा-

' शरीरमें सूर्यका विस्तार, फैलाव वा वृद्धि ' और यही मुख्य अर्थ है। क्यों? कारण सात व्याहृतियोंमें सूर्यके ही सात मुख्य गुण बताए गए हैं, और जिस प्रकार फूंकनेसे अग्नि बढती है, ठीक उसी प्रकार प्राणायाम वा शरीरमें वायुका विस्तार करनेसे शरीरमें अग्नि वा सूर्य प्रदीप्त होता है, प्राणायाम करते हुए निम्न भावना दृढ होनी चाहिए-

ऋषि कुत्स आंगिरसः। देवता सूर्यः।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। स्वाहा॥

ऋ. १।११५।१॥

अर्थ—(सूर्यः) सूर्य (आत्मा) जीवन बीज है (जगतः) जंगम (च तस्थुषः) और स्थावर सृष्टिका। (स्वः) अपने कुंभक वायुको मैं (आ) पूर्णतया (हा) बाहर छोडता हूं॥ १॥

स्पष्टीकरण- कई लोग सूर्यको जड=निर्जीव समझते हैं, परंतु न तो वेदमंत्र उनका समर्थक है और न पाश्चात्य विज्ञान। ' स्व+आ+हा स्वाहा ' का अर्थ ' मैं पूर्ण त्याग करता हूं ' श्री पं० सातवलेकरजीने संध्योपासनामें किया है। आहुति देते समय यही ग्राह्य है, और प्राणायाम करते समय उपरोक्त।

प्राणायाम मंत्र

ॐ भूः। ॐ भुवः। ॐ स्वः। ॐ महः। ॐ जनः। ॐ तपः। ॐ सत्यम्॥ तैत्ति० प्रपा० १०। अनु० ७१॥ नारायणोप० सं० ३५।

अर्थ—सूर्य सत् है। सूर्य चित् है। सूर्य आनंद है। सूर्य महान् है [सूक्ष्म, निराकार परमात्मा नहीं]। सूर्य सृष्ट्युत्पादक है। सूर्य ही उष्णता, तपस, अग्नि वा ग्रीष्म ऋतु है। सूर्य ही सत्य है, अनश्वरता है वा मुक्तिस्थान है॥७१॥

भावार्थ—प्राणायाम करनेसे मनुष्य शरीरसे निम्न-सात सूर्य शक्तियोंका विकास होता है—

१. सत् सत्ता, अस्तित्व=Existence, जिससे आयु बढती है.

२. चित्, चेतना, ज्ञान=Knowledge, जिससे ज्ञान विज्ञानकी वृद्धि होती है, कारण वेदोत्पत्ति सूर्यसे हुई है.

३. आनंद, सुख=Bliss, कारण मुक्तिस्थान सूर्य ही है। इहलोकमें सुखदाता, दुःखत्राता भी वही है।

४. महत्व, बडप्पन, विशालता=Greatness, यह हृदयकी शोभा है, और साकार सूर्यसे ही प्राप्त हो सकती है, निराकार परमात्मासे नहीं.

५. प्रजनन शक्ति=Procreative Power; जिस प्रकार पुरुष+प्रकृति-पुञ्ज सूर्यसे ही चराचर जगत् उत्पन्न हो सकता है, उसी प्रकार पुरुष+प्रकृति पुञ्ज मनुष्य भी सन्तति उत्पन्न कर सकता है। निराकार परमात्मा अपने-मेंसे साकार सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः यदि सृष्टि उत्पादक एक है, तो वह सूर्य ही है, निराकार परमात्मा नहीं!

६. तपस् तपस्या=Power of Endurance=द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति साकार सूर्यमें ही है, निराकार परमात्मामें नहीं! अतः वह सूर्योपासना द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। तपसः= The Sun= सूर्य (आपटे)

सूर्यसे सृष्ट्युत्पत्ति

ऋषि अघमर्षणो माधुच्छंदसः। देवता भाववृत्तम्।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

॥ ऋ० १०।१९०।१॥

अर्थ— (अभि-इद्धात्) सब ओरसे जलने-जलानेवाले (तपसः अधि) सूर्यके आधीन (ऋतं च) त्रिकालाबाधित सत्नियम और (सत्यं च) सत्य=असत्=प्राकृत नियम जो नामरूप बदलनेपर भी समूल नष्ट नहीं होते ये दोनों (अजायत) उत्पन्न हुए॥ १॥

भावार्थ— ऋतं=सार्वकालिक नियम और सत्यं=सार्वभौमिक नियम। ये दोनों सदा सृष्टिके आरंभमें सूर्यकी उष्णतासे उत्पन्न होकर प्रलयतक अविश्रान्त कार्य करते रहते हैं। इसी कारण सूर्यको शुक्रम्, जगद्बीज, ब्रह्मबीज वेदमें कहा है। ऋग्वेद १।१६४।४६ में सूर्यको एकं सत् भी कहा है। यहां सूर्यसे सृष्ट्युत्पत्ति सिद्ध हो रही है,। निराकार परमात्मासे नहीं! धाता, विधाता भी सूर्यके ही नाम हैं।

७. अमरत्व, अनश्वरता, मुक्तिलोक= Immortality Paradise जन्म-मरणके बंधन तोडकर मुक्ति सुख भोगनेकी लालसा मनुष्यको लगी रहती है। प्राणायाम मन्त्रका आदेश है कि प्राणायाम द्वारा सूर्य शक्तिको बढाकर मुक्तिका आनंद भी प्राप्त किया जा सकता है। भूः=जन्मसे आरंभ करके सत्यम्= अनश्वर सूर्य वा मुक्तिलोकतक प्राणायाम मन्त्रने पहुंचा दिया-अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति सूर्योपासना द्वारा करा दी-धर्मकी सिद्धि करा दी यथा—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

॥ वै० १।१।२ ॥

प्राणायामका अभ्यासी प्राणवायुका व्यायाम करते हुए अपने प्राणदाता सूर्यके गुणोंका भी साथ साथ चिन्तन करता रहे ऐसा प्राणायाम मन्त्रका अर्थ हो, तो ही उसे संध्योपासना विधिमें स्थान मिलना चाहिए, अन्यथा इस मन्त्रका विनियोग प्राणव्यायाम विधिमें होना चाहिए।

अघमर्षणके मन्त्रोंका देवता भाववृत्तम् होनेके कारण सृष्ट्युत्पत्ति तथा सूर्यसे संबंध आता है। फिर अथर्ववेद ३।२७ के जिन छः मंत्रोंको मनसा परिक्रमाके मंत्र समझा गया है, उनका देवता दिशाः=दिशाएं होनेसे वे भी सूर्यसे सबंधित हैं। आगेके चार उपस्थान मंत्रोंका देवता सूर्य है

इस प्रकार यदि देवता अनुसार अर्थ किए जाएं तो आर्यसमाजमें प्रचलित सध्योपासनासे सूर्योपासना टपक पडेगी, निराकार उपासना नहीं! परंतु लाखों लोग आज ७५ वर्षोंसे इन १९ मंत्रोंमें निराकार उपासना मान रहे हैं! यह भ्रमोच्छेदन अब अवश्य हो जाना चाहिए, और ॐ ने सहायता दी तो अवश्य हो जायगा।

खण्ड-११

संध्या हवन सफल क्यों नहीं होते?

इसलिए कि अब वेदमंत्रोंका अवैदिक विनियोग होने लगा है, उदाहरणार्थ—

क— 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इस ऋ० २।२३।१ के मंत्रका देवता ब्रह्मणस्पति= सूर्य है, परंतु मूर्ति पूजक पंडित इसका विनियोग मिट्टीके बने गणपतिकी पूजामें किया करते हैं, और साथ ही फलकी आशा धरते हैं!

ख— शं नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

यह मंत्र ऋ० १०।९।४, वा० य० ३६।१२, अ०१।६।१ तथा सामवेदमें दो बार आया है; मंत्रका देवता चारों वेदोंमें आपः है, 'आपः' के अर्थ देखिए—

१. आठ वसुओंमेंसे एक [इन आठमें सूर्य भी आता है— ले०]

२. आपं (अपां समूहः) नदी, नाला, जलप्रवाह, पानी।

३. आकाश (निरुक्तमें) ॥ आपटे ॥

ऋग्वेद और अथर्ववेदमें तो आपः=भेषजम्=ओषधि स्वयं मंत्रोंने अर्थ किया है, अतः आपः का अर्थ जल वा सूर्य करना ही वेद सम्मत है।

यह मंत्र आर्यसमाजकी संध्या विधिमें आता है। पञ्चमहायज्ञविधिमें ऋषि दयानंदने आपः का अर्थ 'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातुसे 'व्यापक' और 'देवी आपः' को 'देव्य आप' बनाकर अर्थ 'सबका प्रकाशक सर्व व्यापक ईश्वर' ऐसा किया है।

लेखकने २० संध्याकी पुस्तकें विभिन्न भाषाओंमें प्रकाशित देखी है। इन सबने ऋषिका अनुकरण करते हुए उक्त अर्थको ही मुख्य माना है। हां! श्री पं. सातवळेकर कृत संध्योपासनामे 'देवीः आपः' का अर्थ 'दिव्य जल' किया गया है। 'आचमन मंत्र' का यही अर्थ वेदसम्मत और योग्य है। परंतु जलकी उत्पत्ति अग्नि वा सूर्यसे हुई है, अतः इस मंत्रका 'एक नया सूर्योपासनाका समर्थक अर्थ भी वा० य० ३२।१* के आधारपर किया जा सकता है जहां आपः का अर्थ अग्नि, आदित्य, वायुः, चंद्रमा, शुक्र, ब्रह्म, प्रजापति किए गए हैं।

पुनः आर्यसमाजकी संध्यासे सूर्योपासनाकी सिद्धि!

इस मंत्रके अनुसार, ऋषि दयानंदका अर्थ ठीक है, कारण आपः न केवल 'सर्वव्यापक' सिद्ध होता है, परंतु 'ईश्वर' भी! साथ ही वेदने यह भी सिद्ध किया कि—

एक-आपः, अग्नि- आदित्य आदि होनेसे 'सूर्य' है, निराकार परमात्मा नहीं!

दूसरा- आपः= सूर्य 'सर्वव्यापक' है, निराकार परमात्मा नहीं!

तीसरा- अब वा० य० ३६।१२ का अर्थ इस प्रकार होगा—

(नः अभिष्टये) हमारी कामनाओंकी पूर्तिके लिए, तथा (नः पीतये) हमारी रक्षाके लिए (देवी) उषा देवी तथा (आपः) सर्वव्यापक सूर्य (शं भवन्तु) कल्याणकारी हों। (यः शं) जो भी सुख हैं वे सब (नः अभि) हमारी सब दिशाओंमें (स्रवन्तु) टपकते रहें ॥ १२ ॥

चौथा- यद्यपि वा० य० ३२।१ के आधारपर संध्याके मंत्रका इस प्रकार अर्थ किया जा सकता है, तथापि इसमें निम्नत्रुटियां आती हैं, तथा संध्याविधिमें इसका विनियोग आचमन मंत्रके स्थानपर तो हो नहीं सकता, कारण इसमें जलसे आचमन करनेका कोई उल्लेख नहीं! दूसरी त्रुटी यह है कि यह अर्थ चारों वेदोंमें आए हुए आपः= जल इस अर्थका विरोधी है, अतः स्वीकार नहीं किया जा सकता य० ३२।१ तथा ऋषिके आधारपर सूर्य अर्थ किया जाय तो आचमन संभव नहीं!

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि वा० य० ३६।१२ का विनियोग आचमन-मंत्रके स्थानमें आर्यसमाजमें प्रचलित संध्या विधियोंके अनुसार नहीं हो सकता। 'आपः' का अर्थ 'जल' करनेसे ही अर्थ वेदानुकूल सिद्ध होगा।

ग— पोपटपंची संध्या हवन

संध्या हवनके असफल रहनेका तीसरा कारण यह है कि हम (ईसाइयोंका अनुकरण करके) सप्ताहमें एकवार सम्मिलित संध्या-हवन करते हैं। इसमें एक भयंकर त्रुटि यह रह जाती है कि उपासकोंका सारा लक्ष्य स्वरमें एक दूसरेसे बराबर लगे रहनेपर लगा रहता है, और मंत्रोंके अर्थोंपर ध्यान जाना असंभव हो जाता है। पहले तो संध्या

---

* स्वयंभु ब्रह्म ऋषिः। आत्मा देवता।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ वा० य० ३२।१ ॥

आदिके मंत्रोंके अर्थ ही देवता अनुसार नहीं किए गए हैं, फिर जो किए गए हैं उनपर ध्यान करनेका समय नहीं मिलता! ऐसे पोपट-पंछी सध्या हवनसे फिर भला लाभ पहुंचे तो क्योंकर?

स मनसाध्यायेद् यद् वा अहं किंचन मनसा ध्यास्यामि तथैव तद् भविष्यति तद्धस्म तथैव भवति ॥ गोपथ ब्रा० पू० १।९ ॥

अर्थ— पं० सातवलेकर कृत संध्योपासनासे—

'वह मनसे इस निश्चयको धारण करे, कि मैं जिसका मनसे ध्यान करूंगा, वह बात वैसी ही बन जाएगी। निश्चयसे वह बात वैसी ही बन जाती है ॥ ९ ॥'

इसका भावार्थ यह हुआ कि यदि मैं संध्या हवन करते हुए किसी भी मंत्रार्थपर ध्यान वा लक्ष्य न लगाऊंगा, तो ऐसी संध्या आदिसे मुझे कुछ भी लाभ न होगा!

श्री पं० चमुपति सत्यार्थ प्रकाशके उर्दू अनुवादके तीसरे समुल्लासमें निम्न पादटीपें हवन करते हुए स्वाहा पद क्यों प्रत्येक मंत्रके बाद बोला जाता है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए देते हैं—

१. 'स प्रजापतिर्विदांचकार स्वो वैमा महिमाहेति। स स्वाहेत्येवाजुहोत् तस्मादु स्वाहेत्येव हूयते ॥ शत० ब्रा० २।२।४।६ ॥

अर्थ— उस प्रजापतिने जाना कि मेरी अपनी महिमा (सदसद्विवेक बुद्धि) ने मुझसे कहा है, इसलिए उसने 'स्वाहा' कहकर हवन किया। अतः 'स्वाहा' कहकर हवन करते हैं। अर्थात् 'स्वाहा' का अर्थ है 'अपनी सद्सद्विवेक बुद्धिका कहा हुआ।'

२. 'स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा ॥ निरुक्त ८।२० ॥

अर्थ— 'स्वाहा' का अर्थ है 'अच्छी तरह कहा' वा अपनी (जमीर=सदसद्विवेककी) भाषामें कहा'

भावार्थ— हवन करते हुए प्रत्येक मंत्रकी समाप्तिपर 'स्वाहा' कहनेकी परिपाटी इसलिए रखी गई है कि हवनकर्ताका लक्ष्य 'स्वाहा' उचारते ही इस बातपर लग जाय कि जो मंत्र मैंने अभी उचारा है, उसे अर्थ समझते हुए कहा है— यूंही नहीं रटा है। विवेक बुद्धिसे अर्थात् अर्थोंको समझते हुए आहुति देनेमें ही हवनकी सफलता है, अन्यथा ढोंग और धनका नाश! संध्या हवनके असफल होनेका ४ था कारण है—

घ. आजके यज्ञोंका नमूना।

कराचीमें लेखकने दो यजुर्वेद पारायण यज्ञ देखे हैं। पहिला यज्ञ तीन दिनोंमें और दूसरा ढाई दिनोंमें उसी विद्वानने समाप्त किया था। लगभग ५ घंटे प्रतिदिन हवन होता था। उक्त विद्वान मंत्र इतनी शीघ्रतासे पढते थे कि आहुति भी समयपर नहीं पड सकती थी! दूसरी बार जब ढाई दिनोंमें यज्ञ समाप्त हुआ तो सर्वत्र वाह वाह हो गई! परंतु लेखकका हृदय रो रहा था, इसलिए कि यज्ञपर ३५०) के लगभग व्यर्थ ही व्यय हुआ कारण अर्थका लक्ष्य करके आहुति देना प्रायः वर्जितसा ही था! इसी प्रकारके यज्ञ आर्य प्रतिनिधि सभाओंके आश्रयाधीन सर्वत्र हुआ करते हैं, और स्वयं श्री सार्वदेशिक सभाके माननीय पंडित करवाते हैं!

दूर दूरसे विद्वान्? पंडित बुलाए जाते हैं, जिनके मार्ग व्यय तथा दक्षिणापर ही १००-२०० रुपये लग जाते हैं! लेखक तो वर्षोंसे यह परामर्श दे रहा है कि यदि आर्य समाजमें अर्थ रहित- यज्ञादि ही श्रेष्ठ समझे जाते हैं, तो संध्या-हवनके मंत्रोंको ग्रामोफोनके रिकार्डोंमें भरवाले। इससे आर्थिक लाभ तो अवश्य ही होगा। बाहरसे विद्वानोंको बुलानेकी आवश्यकता न रहेगी।

यज्ञ करनेके अधिकारी याजक हैं, विद्वान नहीं।

यज्ञ करवानेके लिए संस्कृतके विद्वानोंको नहीं, अपितु याज्ञिकों वा याजकोंको बुलाना चाहिये। ये वे लोग हैं जिन्होंने मन्त्रार्थको साक्षात् करके विवेक बुद्धि और श्रद्धासे आहुति डालनेका अभ्यास किया हुआ है, और जो आहुति डलवानेसे पूर्व यजमानोंको मंत्रका अर्थ समझानेकी योग्यता रखते हैं। याजक उत्पन्न करने पडेंगे।

श्रद्धा कैसे उत्पन्न की जाय?

आहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धयाहुतम् ॥ मुण्डकोप० २।२॥

अर्थ— (हुतम्) होम करते हुए (श्रद्धया) श्रद्धासे (आहुतीः प्रतिपादयेत्) आहुतियां दी जाएं ॥ २ ॥

लोग कहते हैं और लेखकका अपना अनुभव भी है कि संध्या हवनमें मन नहीं लगता। परंतु जो ऐसा कहते हैं उनका मन अन्य कियेक कार्योंमें लगता भी है। कारण क्या ?

कार्य कारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
॥ गीता १३।२० ॥

प्रकृति ही कार्य तथा कारणकी हेतु कही जाती है ॥२०॥ अतः किसीकी प्रकृतिका झुकाव ही संध्या हवनकी ओर न हो, तो उसके मनमें इन कार्योंके लिए श्रद्धा=तडप किस प्रकार उत्पन्न हो सकेगी ? दूसरे ऐसे लोग भी हैं जो मंत्रोंके अर्थ न जानते हुए भी बडे प्रेमसे संध्या हवन करते हैं ! परन्तु सच्ची श्रद्धा और सफल कर्म तो वही होते हैं जो अर्थ जानते हुए तन्मयतासे किए जाते हैं। आजकल जो पोपट-पंछी संध्या हवन हो रहे हैं, उनसे लोभकी आशा रखना व्यर्थ है। संध्या आदिके असफल होनेका ५ वां कारण है—

ङ— संध्या हवनके मन्त्र देश काल अवस्थाके अनुसार बदलने चाहिए !

लेखक १९१३ से अपनेको आर्यसमाजी समझते हुए भी आज चार वर्षोंसे अनुभव करता है कि संध्या हवनके मंत्र आमूल बदल देने चाहिए। आज राष्ट्रको क्षात्र धर्म, वैदिक राज्यनीति, संगठन, आदिकी आवश्यकता है, अतः इन्हींको जागृत करानेवाले मंत्रोंका समावेश संध्या हवनमें होना चाहिए। हवनमंत्र १०–१५ ही हों, परन्तु आजकी आवश्यकताओंको पूर्ण करवानेवाले हो। जिन्हें समय और इच्छा हो वे प्रत्येक मन्त्रकी तीन तीन चार चार आहुतियां अर्थको समझते हुए दिया करें। सभी मन्त्र सामूहिक कल्याणके चुनने चाहिए। समूहमें व्यक्ति समाया हुआ है ही। लेखक इसी प्रकारसे चुने मन्त्रोंसे मार्च १९४७ से प्रातःकाल एकवार हवन किया करता है।

च- पत्तों पानीसे हवन कीजिए !
परंतु साकार सूर्यके लिए निराकारके लिये नहीं !

यद्यपि वेदोंमें संध्याका नहीं अपितु हवनका ही अधिक उल्लेख है, तथापि लेखकके हृदयमें १९४४ तक हवनके लिए श्रद्धा उत्पन्न न हो सकी, यह स्वीकार करना चाहिए। श्री पं. ऋभुदेवजी शर्मा उन दिनों निर्वाह मात्र १६) मासिक लेकर औषधमें सेवा किया करते थे। एक दिन देखा कि वे अग्निमें केवल एक एक बूंद घीकी आहुति डालकर हवन कर रहे हैं ! बस उसी दिन हृदय प्रकाशित हो गया- श्रद्धा उमड आई। हवन सूर्य शक्तियोंकी उत्तेजनाके लिए किया जाता है, अतः गीतामें श्रीकृष्ण सूर्यकी भूमिका लेकर बोलते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।
॥ गीता ९।२६ ॥

अर्थ— जो पत्र, फूल, फल अथवा जल मुझे (ईश्वरको) भक्तिसे अर्पण करता है, उस शुद्ध चित्तवाले भक्तने लाया हुआ वह पदार्थ मैं ग्रहण करता हूं ॥ २६ ॥

भावार्थ— सच्ची श्रद्धा और भक्ति मन्त्रार्थ समझनेसे ही उत्पन्न होती है। इसीसे चित्त वा ज्ञान शुद्ध होता है। सूर्यदेव कहते हैं कि ऐसे शुद्ध चित्तवाले श्रद्धावान भक्त यदि फूल पत्तों वा जलके छींटोंसे भी हवन करते हैं तो मैं हवन द्वारा की गई प्रार्थना स्वीकार कर लिया करता हूं। अर्थात् बिना मन्त्रार्थोंपर ध्यान लगाए हवन करनेसे सूर्यदेव किसीकी प्रार्थना नहीं सुनते ! फिर भला प्रचलित संध्या हवनसे लाभ हो तो क्योंकर ?

उपनिषद भी कहती है कि कुछ न मिले तो जलसे ही हवन कर ले, परन्तु अग्नि पूजा न छोडे।

(अपूर्ण)

आर्य--साम्राज्यका स्वरूप

लेखक- आचार्य श्री विद्यानन्दजी विदेह, अध्यक्ष, वेद-संस्थान, अजमेर

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु॥ (ऋ० ६. ५४. १०)

(पूषा) प्रभु (परस्तात्) परोक्षसे (दक्षिणं हस्तं) अपना बलिष्ठ हाथ (परि दधातु) हमपर रक्खे। (नः) हमारा (नष्टं) नष्ट हुआ वैभव (पुनः) फिर (आ अजतु) लौट आये।

हम आर्य वेदको ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। हमारा विश्वास है कि सृष्टिके आदिमें आदि ऋषियोंके पवित्र अन्तःकरणोंमें वेद-ज्ञानका अवतरण हुआ करता है। आर्येतर निष्पक्ष तथा बहुश्रुत विद्वानोंने भी इस बातको स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है कि वेद संसारमें प्राचीनतम ग्रन्थ है और सर्वश्रेष्ठ विद्याभण्डार है। उनकी यह भी मान्यता है कि आदर्श, धर्म, संस्कृति, सभ्यता तथा सदाचारका पाठ भी संसारको वेदानुयायी आर्योंने ही पढाया है।

हमें गत पौष शुक्ला ९ सं० २००७ को चारों वेदों तथा संस्कृतका अध्ययन, मनन तथा प्रचार करते हुए ३० वर्ष पूरे हो गये। हमने लगभग सभी तथा-कथित धर्म ग्रन्थोंका वेदोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है। अतः स्वानुभवके आधारपर हम यह कह सकते हैं कि उन तथा कथित धर्मग्रन्थोंमें जो कुछ सत्य और शिव है वह सब वेदोंका है, और जो कुछ वेदसे भिन्न है वह सब भ्रम, भ्रान्ति और अनाचारका कारण है।

पौरस्त्य और पाश्चात्य भाषा विशारद अब इस धारणाको, संस्कृतकी तरह लेटिन और अरबी भी आदिम और अन्य भाषाओंकी जन्मदात्री भाषायें हैं, ऐसा गलत मानने लगे हैं। उनकी मान्यताका झुकाव अब इस ओर है कि विश्वकी समस्त भाषाओंकी जननी शायद संस्कृत ही है।

हमें लेटिन और अरबीका ज्ञान तो नहीं है, परन्तु लेटिनकी पुत्रियोंमें एक पुत्री अंग्रेजी तथा अरबीकी पुत्री फारसी और उर्दूका हमें पर्याप्त ज्ञान है। हमारा यह अनुमान है कि अंग्रेजीमें ५० प्रतिशत शब्द वेद और संस्कृतके हैं। फारसी और उर्दूमें अरबीके अनेक शब्द ऐसे हैं, जो वेद और संस्कृतके शब्दोंसे स्पष्टतः मिलते जुलते हैं। फारसीमें कमसे कम ६० प्रतिशत शब्द संस्कृतके हैं। उर्दू सहित समस्त प्रान्तीय भाषायें भी संस्कृतके शब्दों तथा अपभ्रंशोंसे भरी पडी हैं। आर्यभाषा [नागरी, हिन्दी] तो संस्कृतमय है ही। वस्तुतः समस्त भूमण्डल अपभ्रंशित या रूपान्तरित संस्कृत ही लिख बोल रहा है। संसारकी समस्त भाषाओंके वाङ्मय संस्कृतके शब्दोंसे आप्लावित हैं।

संस्कृतकी स्वतन्त्र धातुओंकी कुल संख्या लगभग दो हजार है। संसारका कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जो इन धातुओंसे अर्थ सहित सिद्ध न होता हो। अतः हम गत कई वर्षोंसे यह प्रचार करते आ रहे हैं कि संस्कृत, न केवल आर्यावर्तकी, अपितु समस्त भूमण्डलकी भाषा बननेकी क्षमता रखती है। संस्कृत ही विश्वभाषा बननी चाहिये।

आजकल आर्य संवत् १, ९७, २९, ४९०, ५२ चल रहा है। आर्य संवत्को सृष्टि संवत् भी कहते हैं। आर्यावर्तीय आर्योंका लगभग दो अरब वर्षोंका गौरवपूर्ण इतिहास है। अतीतके पन्नोंका एक शब्द हमारी महिमाका गौरवगान कर रहा है। इतिहास असंदिग्धतया साक्षी है कि सृष्टिके आदिसे लेकर अबसे छः हजार वर्ष पूर्व तक, इस भूमण्डलपर आर्योंका चक्रवर्ती साम्राज्य रहा, जिसकी छत्र-छायामें समस्त संसारमें वैदिक धर्मका प्रचार तथा संस्कृत भाषाका व्यवहार रहा। परन्तु गत छः हजार वर्षका समय हमारे भयंकर पतनका युग है, जिसमें हमारी सार्वभौमताकी भावना दिन प्रतिदिन क्षीण होते होते आज इतनी संकुचित हो गई है कि विश्वको अपनाना तो दूर रहा, हम अपनेको भी नहीं अपना सकते। विश्वमें व्यापना तो अलग, हम अपने देशमें भी नहीं व्याप सकते।

पराजयकी भावनाका सर्वथा त्याग करके हमें अब फिर विजय पथपर बढना चाहिये। हमें अब पुनः संसारमें अपनी प्राचीन परम्पराके अनुकूल स्थिति ग्रहण करनी चाहिये। हमें पुनः समस्त भूमण्डलपर वेदका प्रचार तथा देववाणी [संस्कृत] का प्रसार करके विश्वमें आर्य साम्राज्य अथवा आर्यत्व की स्थापना करनी चाहिये। इसीमें विश्वका कल्याण है और इसीमें नव स्वतन्त्रता प्राप्त इस विशाल आर्य राष्ट्रका गौरव है।

हमारे नेता आर्य राष्ट्रमेंसे सम्प्रदायवादको सर्वथा निकाल देना चाहते हैं, तदर्थ वे साधुवाद और बधाईके पात्र हैं। परन्तु साम्प्रदायिकतासे भी भयंकर है प्रान्तीयता जिसका, मुख्य कारण है प्रान्तीय भाषायें। राष्ट्रकी अखण्ड एकताके लिये भाषाकी एकता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। भाषाकी एकताके बिना विचार और व्यवहारकी एकता सम्पादन नहीं की जा सकती। भाषा विचार और व्यवहारकी एकता सम्पादन हो जानेपर अन्य सब एकतायें अनायास ही सिद्ध होती चली जाती है। सभी प्रान्तीय भाषायें संस्कृतमय हैं और साथ ही सभी प्रान्तोंमें धार्मिक कृत्य तथा संस्कार संस्कृतमें ही किये जाते हैं। सब प्रान्तोंकी जनतामें संस्कृतके लिये श्रद्धास्पद तथा पूज्य भाव है। संस्कृत हमारे पूर्वजों की मातृभाषा थी। उन्हीं पूर्वजों का रक्त, रज तथा वीर्य हमारे शरीरोंमें है, अतः संस्कृत संस्काररूपमें हमारे अन्तरमें है। संस्कृत अति सरल, सुबोध और स्वाभाविक भाषा है और संस्कृत ही वह भाषा है जिसका सब प्रान्तोंमें श्रद्धापूर्वक स्वागत ही किया जायेगा।

फिर, संस्कृतके प्रसारके बिना वेदप्रचार अधूरा ही रहेगा। वेदकी भाषा संस्कृत है, अतः संस्कृतकी व्यापकताके बिना वैदिक धर्मकी न व्यापकता हो सकती है, न स्थिरता। वेद आचार-धर्म है। वेदकी शिक्षायें मनुष्यमात्रके लिये हैं। वेदमें बडे सात्विक, निर्मल, उदार, स्फूर्तिमय, उत्साहवर्धक और उदात्त सन्देश हैं। वेदकी शिक्षायें पशु मानवको दिव्य मानव और देव बनाती हैं। वेदमें सार्वभौमिक भावनायें और सत् प्रेरणायें हैं। वेद मनुष्यको आर्य बनाता है। आर्यके अर्थ हैं श्रेष्ठ, सच्चरित्र, सच्चा और अच्छा मनुष्य। आर्यके अर्थ हैं विश्वका-किसी राष्ट्र वा देशका ही नहीं-विश्वका उत्कृष्ट नागरिक। 'जीओ और जीने दो' live and let live) यह सिद्धान्त तो तुच्छ और नीच कोटिके मनुष्यका है। आर्यका सिद्धान्त तो 'बढो और बढाओ,' 'वर्धस्व वर्धय च' (progress and let other progress) होता है। आर्य अपनी ही उन्नतिसे सन्तुष्ट नहीं होता, आर्य तो सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझा करता है। संसारमें संस्कृत और वेदके प्रचारसे समस्त विश्वका मानव देव बन जायगा। हमारा यह भूमण्डल देवधाम, स्वर्गधाम हो जायेगा, विश्वमें देवराज्य, आर्यसाम्राज्य स्थापित हो जायेगा।

कई पीढियोंसे इस संसारके महा पुरुष समस्त भूमण्डलको एक परिवारके रूपमें देखनेका मधुर स्वप्न देखते आ रहे हैं। संस्कृत और वेदके प्रचार द्वारा ही यह स्वप्न भी सार्थक हो जायेगा। अतः आर्यावर्तकी राष्ट्रीय एकता तथा विश्वकल्याणके लिये संस्कृत और वेदका प्रचार अत्यावश्यक है। परन्तु विश्वमें इनका प्रचार करनेसे पूर्व हमें अपने देशमें इनका प्रचार करना चाहिये।

जब हम सुसंस्कृतज्ञ और वेदाचारी होकर सदाचार, आध्यात्म, ब्रह्मचर्य, विज्ञान, बल, पराक्रम, नीति और कला कौशलमें निष्णात होकर चतुर्मुखी उन्नति करेंगे, तभी हमारा यह प्राचीन राष्ट्र पुनः सर्व शक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न और विश्वशिरोमणि बनेगा और सूर्यके समान समस्त भूमण्डलके लिये प्रकाश और आकर्षणका केन्द्र बनेगा। वही आर्यावर्त वास्तविक आर्यावर्त होगा, उसी आर्यावर्तको विश्ववन्द्य गुरु मानकर विश्व फिर नमेगा, और वही आर्योंका आर्य साम्राज्य होगा।

इन्द्र त्वादातमिद्यशः।

इन्द्र ! यश तेरे सुपुर्द है, लाज तेरे हाथ है।

संस्कृत की लोकोक्तियाँ

सम्पादक- महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर, साहित्यरत्न

किसी भी भाषाकी लोकोक्तियाँ उस भाषाके प्राणके समान हैं। यदि आपकी रचनामें लोकोक्तियोंका अच्छा समन्वय है तो वह प्राणवान् है, अन्यथा वह एक प्रकारसे बोझल, शुष्क एवं निर्जीवसी रचना मानी जायेगी। किसी भाषाका अच्छा बोध होनेके लिये उसमें प्रचलित लोकोक्तियोंका ज्ञान परम आवश्यक है। यदि हम संस्कृतका प्रचार करना चाहते हैं तो हमें संस्कृत लोकोक्तियोंका प्रचार करना आवश्यक है। इसी दृष्टिसे हमने निम्नाङ्कित लोकोक्तियोंका संकलन किया है। यह संस्कृत भाषाके प्रचारमें अवश्य ही उपयोगी सिद्ध होगा।

१ **नैकं चक्रं परिभ्रमयति** (एक चाकसे गाडी नहीं चल सकती)

२ **कार्यान्धस्य प्रदीपो मन्त्रः** (किंकर्तव्य विमूढके लिये मन्त्रणाही मार्गदर्शिका है)

३ **उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम्** (अंगारा जलता हुआ तो हाथ जलाता है और ठंडा होनेपर कालिख लगाता है)

४ **अपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी** (स्त्रियोंपर लोग मनमानी हुकूमत छांट लेते हैं)

५ **उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये** (उपदेश मूर्खोंमें शान्ति पैदा नहीं कर सकता, उससे वे क्रोध ही करेंगे)

६ **उदिते हि सहस्रांशौ न खद्योतो न चन्द्रमाः** (सूर्यके उदय हो जानेपर नतो जुगनू और न चन्द्रमाही कुछ जंचता है)

७ **षट् कर्णाद् भिद्यते मन्त्रः** (छः कानोंमें पडी बात फूट कर रहती है)

८ **अलब्धलाभो नालसस्य** (आलसीको अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती)

९ **एकान्तारिन्तं मित्रमिष्यते** (अपने शत्रुके परेका जो होगा उसे (स्वाभाविक) मित्र मानना चाहिये)

१० **उत्पद्यन्ते विलीयन्ते निर्धनानां मनोरथाः** (गरीबोंके मनमें भांति भांतिकी इच्छायें उत्पन्न होती रहती हैं और नष्ट होती रहती हैं)

११ **इन्धनौघघगव्याग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम्** अग्निमें सूर्यसे अधिक तेज कभी भी नहीं आसकता, चाहे जितना ईंधन झोंक दो)

१२ **इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः** (अपने मुंह 'मिया मिठ्ठू' बननेसे अवश्य हलकापन आजाता है, चाहे इन्द्र ही क्यों न हो)

१३ **हीयमानस्सन्धिं कुर्यात्** (अपना पक्ष निर्बल होता देख सन्धि कर लेनी चाहिये)

१४ **नातप्त लोहो लोहेन संधीयते** (लोहा बिना तपे दूसरे लोहेसे नहीं जोडा जा सकता)

१५ **गजपादयुद्धमिव बलवद्विग्रहः** (बलवान्से युद्ध करना पैदल चलनेवालेका हाथीसे युद्ध करनेके समान है)

१६ **आमपात्रमामेन सह विनश्यति** (कच्चा मटका दूसरे कच्चे मटकेपर पटकनेसे उन दोनोंका ही विनाश हो जाता है।

१७ **आवेष्टितो महासर्पैश्चन्दनः किं विषायते ?** (भयंकर सर्पोंसे घिरा हुआ भी चन्दन क्या थोडासा भी विष-ग्रहण करता है ?]

१८ **आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः** (कुटिल जनोंके साथ सरलताका व्यवहार ठीक नहीं है, नीतियुक्त नहीं है।

१९ **आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जा सुखी भवेत्** आहार और व्यवहारमें संकोच नहीं करना चाहिये)

२० **न व्यसनपरस्य कार्यावाप्तिः** (व्यसनी मनुष्यको कार्यमें सफलता नहीं मिलती)

२१ **अर्थेषणा न व्यसनेषु गण्यते**) अर्थ प्राप्तिकी इच्छा व्यसनोंकी गिनतीमें नहीं आती)

२२ **अग्निदाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम्** (कठोर वाक्य आगके चटकेसे भी अधिक त्रासदायक है)

२३ **आत्मायत्तौ वृद्धि विनाशौ** (अपना उत्कर्ष और अपकर्ष अपने ही हाथमें है)

२४ **नास्त्यग्नेर्दौर्बल्यम्** (' अग्नि दुर्बल है ' ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता)

२५ **आरब्धाह्यसमाप्तैव किं धीरैस्त्यज्यते क्रिया?** (धीर पुरुष किसी कामको आरम्भ करके फिर क्या बिना पूरा किये कभी छोडते हैं ?)

२६ **पुरुषकारमनुवर्तते दैवम्** (प्रयत्नके पीछे पीछे भाग्य है ही)

२७ **कार्यान्तरे दीर्घसूत्रता न कर्तव्या** (काम हाथमें ले लेनेपर दीर्घसूत्रता न करनी चाहिये)

२८ **दोष वर्जितानि कार्याणि दुर्लभानि** (दोष रहित कार्य दुर्लभ होते हैं)

२९ **परीक्ष्यकारिणी श्रीश्चिरं तिष्ठति** (विचारपूर्वक कार्य करनेवालेके पास लक्ष्मी चिरकालतक रहती है)

३० **यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रूपान्तराणि करोति** (यदृच्छासे कीडा भी कुछ न कुछ मूर्ति बना लेता है)

३१ **क्षीरार्थी वत्सो मातुरूधः प्रतिहन्ति** (दूध पीनेकी इच्छा रखनेवाला बछडा अपनी माकी कोखमें हूंसे मारता है)

३२ **आपत्काले च कष्टेऽपि नोत्साहस्त्यज्यते बुधैः** बुद्धिके जो धनी हैं, वे बडीसे बडी विपत्तिमें भी उत्साह नहीं छोडते)

३३ **आकण्ठजलमग्नोऽपि श्वा लिहत्येव जिह्वया** (गले-गलेतक जलमें खडा हुआ भी कुत्ता (जलको) जीभसे ही चाटेगा)

३४ **अहोदैवाभिशप्तानां प्राप्तोऽप्यर्थः पलायते** (आह ! अभागोंके हाथमें आया हुआ भी धन (गायब) लुप्त हो जाता है)

३५ **असिद्धार्थाः निवर्तन्ते नहि धीराः कृतोद्यमाः** (धीर तथा उद्योगी पुरुष काम पूरा किये बिना दम नहीं लेते)

३६ **अश्रेयसे न वा कस्य विश्वासो दुर्जने जने ?** (दुष्टपर विश्वास करके कौन सुख पा सकता है ?)

३७ **धेनोश्शीलज्ञः क्षीरं भुङ्क्ते** (जिसे गायकी खोड मालूम रहती है वही उसका दूध पीता है)

३८ **अतिभारः पुरुषमवसादयति** (शक्तिसे अधिक बोझा मनुष्यको थका देता है)

३९ **बहूनपि गुणानेक दोषो ग्रसति** (यदि दोष एक भी हुआ तो वह सारे गुणोंको मिट्टीमें मिला देता है)

४० **क्षुधाऽर्तो न तृणं चरति सिंह** (शेर भूखा होनेपर भी घास नहीं खाता)

४१ **पिशुन श्रोता पुत्र दारैरपि त्यज्यते** (कच्चे कानके आदमीको स्त्री पुत्र भी त्याग देते हैं)

४२ **नास्ति रत्नमखण्डितम्** (जिसे कहीं भी खुरच न हो ऐसा रत्न दुर्लभ है)

४३ **नमन्त्यपि तुलाकोटिः कूपोदक क्षयं करोति** (पानी ऊपर निकालनेके यन्त्रका दांडी नीचे झुक जानेपर भी वह कुएंके पानीको तो समाप्त ही करती है)

४४ **क्षीराश्रितं जलं क्षीरमेव भवति** (दूधमें मिलाया हुआ पानी दूध ही माना जाता है)

४५ **मृत्पिण्डोऽपि पाटलीगन्धमुत्पादयति** (मिट्टी भी पाटली पुष्पकी गन्धके सहवाससे सुगन्धित हो जाती है)

४६ **रजतं कनक संगात्कनकं भवति** (सोनेके संसर्गसे चांदी भी सोना बन जाती है)

४७ **मत्स्यार्थीव जलमुपयुज्यार्थं गृह्णीयात्** (मछियारेके समान (जलको अलग करके) मनुष्य अपना उद्दिष्ट पूरा कर ले)

४८ **अश्नुते स हि कल्याणं व्यसने यो न मुह्यति** (संसारमें वही सुख भोगता है जो विपत्तिमें घबराता नहीं)

४९ **अर्धो घटो घोषमुपैति नूनम्** (अधजल गगरी छलकत जाय)

५० **अतितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम्** (अत्यधिक तपा लोहा भी मृदु हो जाता है, शरीरधारियोंका तो कहना ही क्या ?)

५१ **अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः** (अप्रिय हितवचन कहनेवाला भी दुर्लभ है और सुननेवाला भी)

५२ **अप्राप्यं नाम नेहास्ति धीरस्य व्यवसायिन** (जो धैर्यशाली है और उद्योगी हैं, उन्हें कौनसी चीज दुर्लभ है)

५३ **अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपिजनः तिरस्क्रियां लभते** (शक्तिशाली पुरुष भी संसारमें तिरस्कार पाता है, यदि वह अपनी शक्तिका परिचय न दे)

५४ **विषं विषमेव सर्वकालम्** (विष सदैव विष रहेगा)

५५ **स्वजनस्य दुर्वृत्तं निवारयेत्** (स्वजनोंमें दुर्गुण दिखाई दे तो उसका निवारण कर दे)

५६ **एकाङ्गदोषः पुरुषमवसादयति** (शरीरमें किसी भी स्थानमें दोष हुआ तो वह अवसन्न हो जाता है)

५७ **निकृति प्रियाः हि नीचाः** (नीच मनुष्योंकी रुचि कुकर्मोंमें ही होती है)

५८ **चन्दनादीनपि दावाग्निर्दहत्येव** (दावाग्नि चन्दन वृक्षको भी जला ही देती है)

५९ **अनुरागस्तु फलेन सूच्यते** (कृतिमे मनका प्रेम दिखाया जाता है)

६० **शौण्डहस्तगतं पयोऽप्यवमन्येत** (शराब बिक्रेताके पासका दूध भी कोई स्वीकारता नहीं)

६१ **मूर्खेषु साहसं नियतम्** (मूर्खोंमें निश्चित रूपसे साहस रहता है)

६२ **आयसैरायसं छेद्यम्** (लोहेसे ही लोहेमें छेद सम्भव है)

६३ **स्वहस्तोऽपि विषदिग्धश्छेद्यः** (अपना हाथ होनेपर भी यदि वह विषयुक्त हो जाय तो काटने योग्य है)

६४ **अपेक्षन्ते हि विपदः किं पेलवमपेलवम्** (जब विपत्ति आती है, तब यह नहीं देखती कि यह कोमल है या कठोर)

६५ **अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः किं करोति गतायुषि ?** (जिसकी आयु पूर्ण हो चुकी है, उसे धन्वन्तरि भी नहीं बचा सकते)

६६ **अपथ्यानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति** बुरे रास्तेसे जानेपर सगा भाई भी छोड देता है)

६७ **अन्यायं कुरुते यदा क्षितिपतिः कस्तं निरोद्धुं क्षमः ?** (राजा होकर अन्याय करे, तो उसे कौन रोके ?)

६८ **अन्यस्माल्लब्धपदो नीचः प्रायेण दुःसहो भवति** (दूसरोंके बलपर ऊँचा दर्जा पाकर नीच पुरुष प्रायः मदान्ध हो जाता है)

६९ **कक्ष्यादपि औषधं गृह्यते** (घाससे भी औषधि निर्माण की जाती है)

७० **व्यसनं मनागपि बाधते** (व्यसन थोड़ा होनेपर भी दुःख पहुँचाता है)

७१ **न चेतनवतां वृत्तिभयम्** (स्फूर्तिमानको आजीविकाकी चिन्ता नहीं रहती)

७२ **यवागूरपि प्राणधारणं करोति काले** (समय पडनेपर दलिया भी प्राणोंकी रक्षा करता है)

७३ **न मृतस्यौषध प्रयोजनम्** (मृत मनुष्यको औषधि देनेसे क्या लाभ ?)

७४ **विषादप्यमृतं ग्राह्यम्** (विषसे भी अमृत ग्रहण कर ले)

७५ **स्थान एव नराः पूज्यन्ते** (मनुष्य योग्य स्थानपर होनेसे ही संमानित होते हैं) (क्रमशः)

अर्थ-धर्म-मीमांसा

लेखक– श्री ईश्वरचन्द्रशर्मा मौद्गल्य, आर्यसमाज, काकड़वाड़ी, बंबई ४

(५)

[गताङ्कसे आगे]

कोई एक वस्तु उपयोगिताके सामान्य स्वरूपका उपादान कारण नहीं हो सकती। सामान्य एकही नहीं सभी व्यक्तियोंमें रहता है। फूल, फल वस्त्र, गेहूं, लकडी आदि सभीमें सामान्य रूपसे उपयोगिता है। व्यापक उपयोगिताको मूर्तिमान् बनानेके लिये एक वस्तुको अनेक वस्तुओंका मूल्य बना दिया जाता है। अनेकोंका मूल्य बन कर भी खद्दर कुर्तेका उपादान कारण रहता है पर तब उसके इस रूप पर ध्यान नहीं दिया जाता। तब वह केवल सामान्य रूपसे उपयोगिताका आश्रय प्रतीत होता है। केवल एक वस्तु न सामान्य रूपसे व्यापक उपयोगिताका आश्रय होती है न श्रमका। कल्पनासे उसे सामान्यका आश्रय मान लिया गया है। यह भेद है जो मूल्य और पण्यमें हो जाता है। पहले मूल्य वस्तुसे पृथक् नहीं दिखाई देता था। पर खद्दर जब अनेक वस्तुओंका मूल्य बना तब वह वस्तु होता हुआ भी वस्तु नहीं रहा। वह केवल सामान्य श्रम और उपयोगिताका मूर्तरूप हो गया। एक प्रकारसे सामान्य श्रम और उपयोगिता बिना उपादान कारणके, बिना आधारके स्वतन्त्र होकर स्थिर हो गये। चांदी वा सोना जब मूल्य बनते हैं तब उनकी भी यही दशा होती है। मूल्य होनेपर भी चांदी और सोनेमें गहने बनानेकी शक्ति रहती है। वे गहनोंके उपादान कारण होते हैं पर वे उपादान रूपमें मूल्य नहीं होते। खद्दर वा अन्य किसी अत्यन्त उपयोगी वस्तुकी अपेक्षा चांदी और सोनेमें मूल्य-का स्वतन्त्र व्यापक स्वरूप बहुत स्पष्ट है। कोई अन्य वस्तु बीस पचास वा सौ वस्तुओंका मूल्य बन सकती है पर चांदी और सोना करोडों अरबोंका मूल्य बनते हैं। चांदी सोना आदि धातुओंको छोडकर मूल्यका अत्यन्त व्यापक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता।

द्रव्य गुण वा कर्म उपादान कारणके बिना कभी नहीं प्रतीत होते। सामान्य धर्म भी बिना आश्रम व्यक्तिके प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल व्यापक वस्तु बिना आधारके रहती हैं। न उनका उपादान कारण होता है न निमित्त। इस प्रकारकी नित्य और जगत्की प्रत्येक वस्तुके साथ संबन्ध रखनेवाली व्यापक वस्तु दिखाई नहीं देती। मूल्यका स्वतन्त्र रूप उपयोग और श्रमके संसारव्यापी सामान्यका रूप है। इसको अनाधार रूपमें प्रत्यक्ष करनेके लिये चांदी और सोने आदिके रूपमें कर दिया है। वस्तुमय मूल्य उपादानसहित है। वस्तुरहित मूल्य उपादानरहित है। वस्तु और मूल्यका केवल इतना भेद है जो मूल्यके स्वतन्त्र रूपसे प्रतिष्ठित होनेपर दिखाई देने लगता है। उपयोगिता और मूल्यका विरोध मार्क्सको इसलिये प्रतीत हुआ कि वे उपयोगिताकी उत्पत्ति केवल उपादान कारणसे मानते हैं। उन्होंने समझा चांदी सोना केवल विनिमय कराते हैं। वस्त्र, गेहूं, आदिके समान किसी उपयोगके साधन नहीं हैं। गहनोंके बनानेमें वा किसी दूसरे कामोंमें उनका उपयोग है। किन्तु उसके कारण वे विश्वव्यापक मूल्य नहीं बना सकते। अतः उपयोगिता अनावश्यक है। पर सामान्य रूपसे उपयोगिता अनिवार्य है। उपयोगिता कोई भी हो, सामान्य रूपसे हो वा विशेष रूपसे, उसका उपादान भी होता है और निमित्त भी।

कुर्ता पहननेके काममें आता है, इस उपयोगका कारण जहां उपादान खद्दर है वहां निमित्त सीनेवालोंका श्रम भी है। बिना खद्दरके कुर्तेमें पहने जानेकी योग्यता नहीं उत्पन्न होती, यह ठीक है। पर केवल खद्दरके होनेसे कुर्तेमें पहने जानेकी योग्यता नहीं हुई, उसमें सीनेवालेका श्रम भी कारण है। इसलिये उपयोगिताके दोनों कारण हैं। दोनों

के कारण होनेपर पण्यमें अकेली उपयोगिता और मूल्यमें अकेला श्रम नहीं रह सकता। आचार्य मार्क्सने उपयोगिता-को उपादान कारण अर्थात् पण्यमें, और श्रमको मूल्य भूत वस्तुमें जो माना उसका भी कारण है। मूल्य और मूल्य-वान्का व्यवहारमें भिन्न स्थानपर रहना इस मतका कारण हुआ है। जहां धर्मी पदार्थ अपने अन्दर रहनेवाले धर्मोंके साथ उपयोगमें आता है वहां धर्मी और धर्म दोनों उपयोगके कारण होते हैं। फल खानेके काममें आता है। रस उसका धर्म है। फल और रस दोनों भोजनके कारण हैं; इसमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। फलका भोजन हो और रसका भोजन न हो यह असंभव है। परन्तु मूल्य और मूल्यवान्का धर्म धर्मिभाव भिन्न प्रकारका है। जब मूल्यवान्का उपयोग होता है तब मूल्यका नहीं होता। पण्यका स्वामी उसकी उपयोगिताकी ओर नहीं देखता। उसकी उपयोगिताका ध्यान मूल्य देनेवाला करता है। मूल्य देनेवाला जिस वस्तुको मूल्यरूपमें देता है वह उसके लिये केवल विनिमयका साधन है। वह उसका कोई अन्य उपयोग नहीं मानता।

इस प्रकार जिसकी उपयोगिता रहती है वह व्यवहारके कालमें मूल्य नहीं रहती और जो वस्तु मूल्य रहती है वह उपयोगी नहीं रहती। लघुरूपमें उपयोगिता और मूल्यकी पृथक् स्थिति दो वस्तुओंके विनिमयमें भी दिखाई देती है। जब चांदी सोना मूल्य बनते हैं तब उपयोगिता और मूल्यका भेद अधिक स्पष्ट हो जाता है। जब कोई किसी पण्यको खरीदना चाहता है तब किसी पण्य द्वारा नहीं खरीदता वह चांदी सोनाको मूल्यमें देकर खरीदता है। लोग पण्य लेकर उनका उपयोग करते हैं। पर मूल्यको वे केवल विनिमयके लिये रखते हैं। मूल्यमें पण्यके समान उनको कोई उपयोगिता नहीं दिखाई देती। इस प्रकार मूल्य और उपयोगिताका कोई साहचर्य नहीं रहता; विनिमयका कारण श्रम है इसलिये मूल्यके रूपमें श्रम उपयोगितासे पृथक् हो गया। पर यह दृष्टि साधारण लोगोंकी है। विचारक केवल इतना ही नहीं देखता। निःसंदेह मूल्य केवल विनिमयके लिये है। सोना चांदी कितना भी पासमें हो, पण्यकी तरह वह खाने पीने आदिके काममें नहीं आता। पर वह धन है जो खरीदनेका साधन है। धन श्रमका रूप है, निरर्थक श्रमका मूल्य नहीं होता। उसमें उपयोगिताका सामान्य रूप होना चाहिये। सामान्य रूपसे श्रम और उपयोगिताका नाम मूल्य है। अतः मूल्य और उपयोगिताका विरोध नहीं है।

अब उन कारणोंका विचार करना चाहिये जो चांदी सोना आदि धातुओंको पण्योंका विश्वव्यापी मूल्य बना देते हैं। × आचार्य मार्क्स सोने आदिमें कुछ स्वाभाविक गुणोंका वर्णन करते हैं जो उनके धन होनेका कारण है। वह वस्तु शुद्ध मूल्यके रूप हो सकती है जिसका प्रत्येक अंश समान गुणोंको प्रकाशित करता है। मूल्योंका भेद परिमाण-के कारण होता है। इसलिये धनरूप वस्तु इस प्रकारकी होनी चाहिये जिसको इच्छाके अनुसार विभक्त और फिर संयुक्त किया जा सके।"

धातुओंके असाधारण गुणोंका वर्णन मार्क्ससे पहलेके अर्थशास्त्री भी करते थे फिर भी इस विषयमें त्रुटि रहती चली गई। ध्यान रहे, केवल इन गुणोंके कारण धातु अपने आप व्यापक मूल्यके रूपमें नहीं हो जाते। कारण कार्य रूपमें आ सकता है इतनेसे कारणका कार्य रूपमें परिणाम नहीं होने लगता। बीज घरमें पड़े पड़े अंकुर पत्र शाखा आदिसे युक्त होकर विशाल वृक्ष नहीं बन जाते। वृक्ष बन जानेका सामर्थ्य बीजमें है। पर उसे भूमिमें बोना पड़ता है, मिट्टी ठीक करनी होती है, पानी देना होता है। इन यत्नोंके अनन्तर समय पर वृक्ष बनता है। चांदी सोने आदिको भी प्रक्रियाका आश्रय लेना होगा। वह प्रक्रिया है विनिमय, बिना विनिमयके एक पण्य दूसरे पण्यका मूल्य नहीं बनता तो चांदी सोना आदि समस्त पण्योंके मूल्य कैसे बन सकते हैं। अशेष पण्योंके विनिमयका साधन बनकर वे मूल्य बनते हैं। किन्तु जब चांदी आदि मूल्य बन जाते हैं तब विनिमयसे इनका अपना मूल्य नहीं प्रकट होता। वे मूल्यके विश्वव्यापक आकारको धारण कर लेते हैं। विनिमयसे प्रकट होनेवाले मूल्य के दो रूप हैं, एक पण्यका

× पूंजी, १ खण्ड, पृ० १०२

प्रातिखिक मूल्य दूसरा व्यापक। + मार्क्सके अनुसार इन दोनोंका अन्तर न समझनेके कारण कई लोगोंने चांदी और सोनेके मूल्यको कल्पित मान लिया है। लोकके मतमें मनुष्य जातिने चांदीको उन गुणोंके कारण कल्पित मूल्य दे दिया जिनके द्वारा वह धन बन सकती थी।

यहां मार्क्सका मत युक्त है। मनुष्य जाति केवल कल्पना द्वारा किसी वस्तुको धन नहीं मान सकती। धन विनिमयका कारण है। बिना श्रमका संबन्ध हुए कोई वस्तु विनिमय नहीं करा सकती। फिर, चांदी सोना तो समस्त वस्तुओंका विनिमय कराते हैं उनका श्रमके साथ संबन्ध विशेष रूपसे आवश्यक है। खानोंसे सोना चांदी आदिके निकालनेमें परिश्रम करना पडता है। पर इस परिश्रमके कारण उनके मूल्यका निश्चय नहीं होता। किसान एक दिनमें जितना गेहूं उत्पन्न करता है उसका मूल्य एक दिनके श्रमसे निश्चित होता है। एक दिनमें जितना सोना चांदी निकले उसका मूल्य एक दिनसे निश्चित नहीं हो सकता। एक दिनमें चांदी सोना आदि चाहे कितने ही अल्प परिमाणमें हो और चाहे गेहूं कितना भी अधिक क्यों न हो दोनोंका मूल्य प्रायः सम नहीं होता। चांदी सोनेका मूल्य समान परिमाणमें श्रमके लगनेपर भी भिन्न ही रहेगा। गेहूंसे उनका मूल्य बहुत अधिक होगा। इस विषयमें * मार्क्सका अभिप्राय युक्त नहीं प्रतीत होता। वे चांदी सोनेके मूल्यका निश्चय उत्पादनके श्रमसे करते हैं। खानोंकी दिशामें इस प्रकारका भेद आ सकता है जिससे चांदी सोना अल्प परिश्रमसे अधिक परिमाणमें मिलने लगें। परन्तु चांदी सोना आदि उतने अधिक परिमाणमें किसी कालमें भी नहीं निकल सकते जितने अधिक परिमाणमें ऋतुके अनुकूल होनेपर गेहूं आदि उत्पन्न हो सकते हैं। अन्य पण्योंकी अपेक्षा इनकी दुर्लभता अवश्य रहती है। इस दशामें चांदी सोनेके निकालनेमें अत्यन्त अल्प परिश्रम होनेपर भी इनका मूल्य बहुत अधिक रहेगा। सोने चांदी आदिके परिमाणका मूल्य जब कभी दूसरे पण्योंके रूपमें प्रकाशित होता है तब यह तो ठीक है कि जितना चांदी वा सोनेके एक नियत परिमाणका मूल्य है उतना अन्य पण्योंका अपने अपने परिमाणोंमें है। पर उसका कारण श्रमका सामान्य परिमाण नहीं होता। जिस कालमें बीस रु. से एक तोला सोना मिल सकता है उस कालमें दस मन गेहूंका मूल्य बीस रु. हो सकते हैं। इस दशामें गेहूंके उत्पादक किसानों और सोनेके निकालनेवाले श्रमिकोंका परिश्रम समान होना आवश्यक नहीं है। संभव है एक तोला सोना एक ही दिनमें निकल आया हो। वस्तुतः चांदी सोने आदिके मूल्यका निश्चय उनकी उत्पत्तिके लिये आवश्यक श्रमके द्वारा नहीं होता। चांदी सोना आदि साधारण लोगोंके लिये दुर्लभ होते हैं। उनकी खाने किसी विशेष स्थानपर होती हैं। उनपर भी विभिन्न देशोंके राज्योंका अधिकार होता है। साधारण जनोंको सोना चांदी आदि पानेके लिये बहुत श्रम करना पडता है। यह श्रम खानसे निकालनेके लिये नहीं, प्राप्तिके लिये होता है। संसार भरमें धातु दुर्लभ है इस कारण श्रम करना पडता है। इस श्रमके कारण सोना चांदी आदि बहु मूल्य हो जाते हैं। यदि अन्य पण्योंके समान सोना चांदी आदि सुलभ हो जाय तो उत्पत्तिमें भारी परिश्रम करनेपर भी उनका अधिक मूल्य नहीं रहेगा। जितना लकडी आदि-का मूल्य है उतना हो जायगा।

साधारण लोगोंको सहस्र रु. के लिये कई मास परिश्रम करने पडते हैं। पर समुद्रमें डुबकी लगानेवाला किसी समय दो चार डुबकियोंमें इस प्रकारके मोती पा सकता है जिनका मूल्य सहस्र रूपये हों। यदि उत्पत्तिके लिये अपेक्षित श्रमसे ही मोतियोंका मूल्य निश्चित होता हो तो उनका मूल्य एक सहस्र रुपया नहीं होना चाहिये। वे विशेष प्रकारके दुर्लभ मोती हैं इसलिये उनका सहस्र रुपया मूल्य है। उपयोगी श्रम मूल्यका कारण है। कहीं उसे पण्यकी उत्पत्तिके लिये करना पडता है कहीं प्राप्तिके लिये। उत्पत्तिके लिये जो श्रम करना पडता है केवल उसको मूल्यका उत्पादक समझनेके कारण कुछने बिना श्रमके भी पण्योंका मूल्य मान लिया। निकालनेमें भारी श्रम न होनेके कारण वे मोती आदिको बिना श्रमके बहुमूल्य समझते हैं। इनके महार्घ होनेका मूल कारण दुर्लभता है। दुर्लभ होनेपर

+ पूंजी, १ भाग, पृ० १०३ और टिप्पणी संख्या १।

* पूंजी, १ खण्ड, पृ. १०४।

प्राप्तिके लिये श्रम करना पड़ता है। श्रम मूल्य उत्पन्न करता है।

सोना आदिके बहुत स्पष्ट धर्म दो हैं। पहले वे मूल्य हैं, उसके अनन्तर महार्घ हैं। प्रायः लेनदेन उनसे होता है इसलिये पहले वे मूल्य रूपमें प्रतीत होते हैं। कार्य कारण भावके विचारसे महार्घताका स्थान पहले है। अन्य पण्य मूल्य होते हैं पर वे दो चार पण्योंके होते हैं। सोना आदि समस्त पण्योंके मूल्य हैं। निरन्तर मूल्य बने रहनेके कारण भोग्य भाव इनका होनेपर भी नहीं प्रतीत होता। यदि ये महार्घ न होते तो व्यापक मूल्य न बनते। ध्यान रहे, व्यापक मूल्य बननेका कारण अकेला भारी मूल्य नहीं है। विशाल भवन वा बड़ा हवाई जहाज बहुमूल्य हैं किन्तु वह छोटे बड़े सब प्रकारके पण्योंका मूल्य नहीं बनता। व्यापक मूल्य बननेके लिये महार्घताके साथ कुछ अन्य धर्म भी होने चाहिये। बहुत कालतक रखनेपर उसमें विकार नहीं आना चाहिये। अपने अंशो द्वारा पण्योंके आंशिक मूल्यको प्रकट करनेका सामर्थ्य होना चाहिये। अंशोंको विभक्त करनेके अनन्तर फिर मूलपिंडके साथ संयोग किया जाय तो मूल्यकी हानि नहीं होनी चाहिये। ये धर्म मूल्यके व्यापक होनेमें प्रधान कारण हैं। चांदी सोना आदिमें इनकी सत्ता है पर विशाल भवन आदिमें नहीं है। इन गुणोंके साथ महार्घ होनेसे सोना आदि व्यापक मूल्य हैं। छोटीसे छोटी और बड़ीसे बड़ी वस्तुका लेन-देन करा सकते हैं। महार्घताके बिना विशेष गुण मूल्यको व्यापक कर सकते हैं पर व्याप्त होनेकी गति तीव्र नहीं रह सकती। यदि गेहूँ लकड़ी आदिके समान सोना आदि अल्प मूल्यके होते तो भी वे समस्त पण्योंका मूल्य बन जाते। विशेष गुणोंका न होना गेहू आदिको व्यापक मूल्य नहीं बनने देता। यदि सोना आदि अल्प मूल्यके हों तो अल्प मूल्यके पण्योंका विनिमय करनेमें कठिनाई न होगी। पर विशाल भवन आदिका लेन-देन कठिनतासे चलेगा। उस समय बहुमूल्य वस्तुओंका लेन-देन करनेके लिये सोने आदिकी विशाल राशि रखनी पड़ेगी। अब अत्यन्त अल्प मात्रासे काम हो जाता है। गेहूं लकड़ी आदिके समान सोने आदिके पर्वताकार ढेर रखनेके लिये धनियोंको भी कष्ट होता है। बहुमूल्य वस्तुओंका सुविधाके साथ लेन-देन करानेके लिये मूल्यभूत वस्तुको अल्प मात्रामें भी महार्घ होना चाहिये।

दुर्लभता अल्प आकारकी वस्तुके महार्घ होनेका कारण है। जो जितना दुर्लभ होगी वह उतना बहुमूल्य होती जायगी। जितना बहुमूल्य होगी उतना मूल्यके रूपमें समस्त पण्योंके साथ शीघ्र संबन्ध करेगी। महार्घ जब व्यापक मूल्य बन जायगी तो उसकी अपेक्षा अल्प मूल्यकी वस्तुको पण्योंके साथ संबन्ध करनेमें बहुत देर होगी। फिर उसका वह महत्व नहीं रहेगा।

मूल्य पण्योंको दो प्रकारसे व्याप्त करता है। क्रमसे और बिना क्रमके एक साथ। माशा भर सोना लेकर पुस्तक विक्रेता पुस्तक बेचता है। उससे वह कपास लेता है। किसान उससे वस्त्र खरीदता है। वस्त्र व्यापारीको औषधियां लेनी हैं उसके हाथसे वह औषधिवालेके पास जाता है। उसे बर्तन चाहिये उसके पाससे बर्तनवालेके पास आयगा। इस प्रकार यह चक्र घूमता चलेगा। यहां माशा भर सोनेका संबन्ध क्रमसे पुस्तक, कपास, वस्त्र, औषधि, और बर्तनके साथ हुआ है।

जब एक तोला सोनेसे इन पण्योंको एक साथ लेते हैं तब मूल्यका संबन्ध बिना क्रमके होता है। स्वर्ण आदि मूल्यरूपसे दोनों प्रकारका संबन्ध रखते हैं।

महार्घता मूल्यके व्यापक होनेका कारण है। पर दोनों प्रकारसे व्यापक होनेके लिये उसकी सीमा है। नियत सीमा तक दुर्लभताके कारण मूल्यमें वृद्धि होती है। पर उसके आगे मूल्य बढ़नेपर पण्योंके साथ क्रमिक संबन्ध नहीं हो सकता। विश्व भरमें इस प्रकारके रत्न हो सकते हैं जिनकी संख्या अत्यन्त अल्प हो। यदि वे संसारके समस्त पण्योंका मूल्य हों तो असंभव नहीं है। इस दशामें वे एक साथ समस्त पण्योंके मूल्य हैं इसलिये व्यापक हैं। पर वे क्रमसे दो चार वा पांच छः पण्योंका मूल्य नहीं बन सकते। इसके लिये उनके अंशोंमें अल्प मूल्य होनेकी शक्ति होनी चाहिये। पर वह नहीं है। इस प्रकारके रत्नोंके अंश किये जांय तो उनका मूल्य बड़े भारी परिमाणमें नष्ट हो जाता है। सोना आदि दोनों प्रकारकी व्याप्ति रखते हैं इसलिये मुख्य रूपसे व्यापक हैं। दुर्लभताकी चरम सीमा पर

पहुंचे हुए रत्न केवल बिना श्रमके संबन्ध रखते हैं अतः गौणरूपसे व्यापक हैं।

कई अर्थशास्त्री दुर्लभताको मूल्यका कारण सिद्ध करनेके लिये अन्य प्रकारको युक्ति देते हैं। अकालमें अल्प-मूल्यकी वस्तु भी बहुत अधिक मूल्य पर बिकती है। एक सेर आलूका मूल्य श्रमके अनुसार चार वा आठ आने होता है। पर अकालमें प्राण बचानेके लिये हजारो रुपयोंमें बिक सकता है। अकेली दुर्लभता मूल्य नहीं उत्पन्न करती। वह उपयोगिताकी वृद्धि करके मूल्य बढाती है। आलूकी उपयोगिता वस्तुतः नहीं बढती। वह जितनी सुकालमें थी उतनी दुष्कालमें भी है। पर अन्य किसी भोज्य वस्तुके न होनेके कारण सेर आलुओंकी उपयोगिता बहुत बढी चढी प्रतीत होती है। उपयोगिताकी यह वृद्धि अपेक्षा बुद्धिके कारण ज्ञानमें है वस्तु-में नहीं। नया श्रम हुआ नहीं इसलिये वह वृद्धिका कारण नहीं। वह उपयोगिता बढाकर दुर्लभता मूल्यका कारण हुई है।

मार्क्स उपयोगिताके बिना श्रमको मूल्यका कारण कहते हैं। ये श्रमके बिना उपयोगिताको मूल्यका कारण मानते हैं। भेद इतना है कि पहले पक्षमें सब प्रकारका मूल्य केवल श्रमसे जन्य है। दूसरे पक्षमें जो वस्तु श्रमजन्य है उनके मूल्यका कारण श्रम है पर दुर्लभताके कारण बहुमूल्य वस्तुके मूल्यको उपयोगिताने उत्पन्न किया है।

वस्तुतः मूल्यके दोनों कारण हैं। अकेला श्रम वा अकेली उपयोगिता कहीं भी मूल्य नहीं उत्पन्न कर सकती। अकालमें सेर भर आलूकी उत्पत्तिके लिये जो श्रम हो चुका है उससे अतिरिक्त श्रमकी अपेक्षा वे नहीं रखते। पर उनकी प्राप्ति भारी श्रमके बिना नहीं हो सकती। हजारो रुपये मूल्य हैं। वे भारी उपयोगी श्रमसे मिले हैं। आलू पण्य है उनको न खांय तो प्राण नहीं रहते इससे उपयोगिताकी वृद्धि प्रतीत होती है। हजारो रु. न दें तो वे मिलते नहीं इसलिये उनमें भारी श्रमका संबन्ध दिखाई देता है। प्राप्तिके साथ श्रमका संबन्ध होनेमें कोई विवाद नहीं हो सकता। उसके द्वारा श्रम आलुओंके साथ भी संबन्ध कर लेता है। कारण प्राप्ति धर्म है और धर्म धर्मीके बिना नहीं रह सकता। अकालके आलुओंके समान चांदी सोना आदिमें उपयोगिता और श्रम दोनोंका संबन्ध है। प्राप्तिके द्वारा श्रमके साथ संबन्ध आलू और सोने आदिका समान है। आलूकी उपयोगिता खाते ही प्रतीत होने लगती है। पर सोने आदिकी उपयोगिता सामान्य रूपसे व्यापक है। वह उसके द्वारा खाने पीने पहनने आदिकी वस्तुओंके लेने पर अनुभवमें आती है। बहुमूल्य सोना आदि भी उपयोगिता और श्रम दोनों धर्मोंसे युक्त है।

जहां उपयोगिता है वहां श्रम और ज्ञानका होना आवश्यक है। बिना इनके उपयोगिता नहीं उत्पन्न होती। सोना आदि व्यापक मूल्य है अतः उनमें उपयोगिता और उसके जनक ज्ञान श्रम विशाल परिमाणमें हैं। वे इन तीनोंके मूर्त रूप हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता

इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु० डा० व्य० [illegible]

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ॥।), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः
ग्रामगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् '**प्रकृतिगान**' तथा '**आरण्यकगान**' है, **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा '**पवमानपर्व**' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (५७ गान) **शुक्रियपर्व** ८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४) रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है।

आसन।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से ३॥।≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

Regd. No. B 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)